पूर्वा

'अज्ञेय' की १९५० तक की कविताएँ

'अज्ञेय'

पूरा नाम सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन; जन्म कसिया, ज़िला देवरिया, ७ मार्च १९११ (फाल्गुण शुक्ला सप्तमी, संवत् १९६७)।

पहली कहानी सन् १९२४ में प्रकाशित हुई।

कविता पहले-पहल सन् १९२७ में प्रकाशित हुई।

प्रकाशित रचनाएँ :

कविता : भग्नदूत १९३३
चिन्ता १९४२
इत्यलम् १९४६
हरी घास पर क्षण-भर १९४९
बावरा अहेरी १९५४
इन्द्रधनु रौंदे हुए ये १९५७
अरी ओ करुणा प्रभामय १९५९
आँगन के पार द्वार १९६१

उपन्यास : शेखर : एक जीवनी, प्रथम भाग १९४१
,, द्वितीय भाग १९४४
नदी के द्वीप १९५२
अपने-अपने अजनबी १९६१

कहानी : विपथगा १९३७
परम्परा १९४४
कोठरी की बात १९४५
शरणार्थी १९४८
जय-दोल १९५१
ये तेरे प्रतिरूप १९६१

भ्रमण तथा निबन्ध : त्रिशंकु १९४५
अरे यायावर रहेगा याद ? १९५३
आत्मनेपद १९६०
एक बूँद सहसा उछली १९६०

अज्ञेय

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

पूर्वा

भग्नदूत	१९३३
इत्यलम्	१९४६
हरी घास पर क्षण-भर	१९४९

मूल्य : सात रुपये
प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली
मुद्रक : हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली

PURVA : AGYEYA : POETRY

भूमिका

'अज्ञेय' का पहला कविता-संग्रह 'भग्नदूत' सन् १६३३ में छपा था। लेखक उस समय जेल में था। जेल से ही पत्रों के साथ जब-तब भेजी जाती रही कविताएँ एकत्रित कर के छपने दे दी गयी थीं। लेखक के जेल में होने के कारण ही पुस्तक छपने पर छपे हुए फरमे पुलिस उठा ले गयी थी। अनन्तर, मूल पत्रों से यह प्रमाणित हो जाने पर कि कविताएँ सभी 'विधिवत्' सेंसर के हाथों गुज़र कर प्रेस तक गयी थीं, चोरी से नही, और हरजाने की धमकी दी जाने पर, पुलिस ने छपे हुए फरमे लौटाये और तब पुस्तक प्रकाशित हो सकी।

'भग्नदूत' की प्रतियाँ बिकीं कम, बँटी ही अधिक। जेल से छूटने पर एक बार यह भी देखा कि पुरानी किताबों की एक दुकान में उस की एक किसी को भेंट दी हुई प्रति भी रद्दी के दाम बिकने को पड़ी थी। जिन्हे भी वह भेंट दी गयी थी, उन्होंने इतनी कृपा (लेखक पर, या स्वयं अपने पर!) अवश्य की थी कि अपना नाम उस पर से मिटा दिया था। वह कौन रहे होंगे यह आज भी ज्ञात नही, यद्यपि वह प्रति लेखक ने स्वयं 'रद्दी के दामों' वापस खरीद ली थी।

'इत्यलम्' सन् १६४६ में प्रकाशित हुआ। उस समय तक 'भग्नदूत' का पूरा संस्करण इधर-उधर हो चुका था, और उस की कुछ कविताएँ स्वयं लेखक को बचकानी लगने लगी थीं; अतएव 'इत्यलम्' में ही उस की वे कविताएँ ले ली गयीं जिन्हें फिर से पाठक-वर्ग के सामने लाना दुर्विनीत न जान पड़ा।

'इत्यलम्' की भूमिका मे कहा गया था : "शीर्षक इस बात का द्योतक है कि लेखक आत्माभिव्यंजना के दूसरे माध्यम या साधनो के साथ जूझ रहा है; किन्तु उसने और कविता न लिखने की शपथ नही ले ली है।" इस प्रकार अपने लिए बचाव का जो रास्ता रख लिया गया था, वह शीघ्र ही काम आया—जब सन् १६४६ में 'हरी घास पर क्षण-भर' का प्रकाशन हुआ।

ये दोनों संग्रह भी पिछले कुछ वर्षों से अप्राप्य हैं। कदाचित् उन का उसी रूप में अलग-अलग पुनर्मुद्रण हो जाना चाहिए था; पर एक संग्रह का प्रकाशन लेखक ने स्वयं किया था और इस प्रयोग की आवृत्ति के लिए तैयार नही था; दूसरे का प्रकाशन करने वाली संस्था ही विलय हो चुकी थी। नये प्रकाशक की खोज कुछ

सहज संकोच के कारण और कुछ बार-बार विदेश-प्रवास के कारण न की। इस प्रकार इतना विलम्ब हो गया कि फिर दोनों को एक ही पुस्तक मे सम्मिलित कर लेना वांछनीय जान पड़ा।

यों, इन्हें जोड़ने के कारण और भी थे। 'भग्नदूत' की सब से पुरानी कविता, जो 'इत्यलम्' मे ली गयी, सन् १९२८ की थी। इस प्रकार दोनों संग्रहों को जोड़ देने से बीस वर्ष की कविताई का कच्चा चिट्ठा पाठक के सम्मुख आ जाता। बीस वर्ष की एक पीढी मानी जाती है ; इस प्रकार सन् १९५० को लेखक के जीवन का एक सन्धिस्थल माना जा सकता था। समीक्षक भी क्रमशः इस पर एक मत होते-से जान पड़े कि 'अज्ञेय' के विकास मे वह एक सन्धिस्थल था—चाहे इस रूप मे कि उस के बाद लेखक ने अपनी शैली (जो और जैसी भी वह थी) पा ली और 'प्रयोग' का महत्त्व उस के लिए न रहा, चाहे इस रूप मे कि 'हरी घास पर क्षण-भर' उस की परासीमा थी और फिर उतार शुरू हो गया।

स्वतन्त्र रूप से भी अर्द्धशती एक युग-सन्धि है ही। इस लिए दोनों ग्रन्थों को जोड़ कर जो सकलन तैयार किया उसे पहले नाम दिया 'पचाशिका' और उपशीर्ष 'सन् १९५० तक की कविताएँ'। यह कार्य हुआ भी सन् १९६१ मे, जब लेखक अपने जीवन के पचासवे वर्ष मे प्रवेश कर रहा था : संग्रह का नाम कुछ इस के बोध से भी सम्पृक्त था।

पर पाडुलिपि तैयार करना एक बात है और उस की पांडुता को ताज़े छपे पृष्ठो की चमकीली स्याही मे परिणत करा लेना दूसरी बात ! छपते-छपते भी सग्रह को चार वर्ष हो चले तो नाम कुछ बेमेल जान पडने लगा। प्रस्तुत नाम 'पूर्वा' एक सुहृद् का सुझाव है। ऊपर के विवरण के सन्दर्भ में यह असंगत भी नहीं है और लेखक को भा भी गया है। वस्तु-स्थिति को बिलकुल स्पष्ट कर देने के लिए इतना और कह दिया जाय कि जिन दोनों संकलनों से यह बृहत्तर संकलन तैयार हुआ, वे पुन. नही छपेंगे अत उन की कविताएँ केवल इस रूप में उपलभ्य होंगी।

'पूर्वा' नाम मे एक तटस्थता का, एक दूरी का, एक पार निकल आये होने का भाव भी है। वास्तव मे वैसा कुछ भाव लेखक के मन का है भी। अनुभव की इन मेहराबों की ओर, जिन के नीचे से वह निकल आया है, लौट कर देखने की कोई अनिवार्यता नही है; उस दृश्य को जितना कुछ रम्य बना रही है, उस की दूरी ही।

यों पार निकल आना यात्रान्त नही है—'आँगन के पार द्वार मिले, द्वार के पार आँगन'—और अवकाश का वह बिन्दु अभी दूर जान पड़ता है जिस से पीछे

ही पीछे देखना रह जाय। जो आगे और अनजाना है, उस के प्रति अब भी एक कौतूहल है जो बल देता है और आशा जगाता है कि ऐसे ही जुटा रहा तो सचमुच एक दिन भाषा लिखना आ जायेगा। 'पूर्वा' से आगे 'उत्तरा' नहीं, 'अपरा' भी नहीं; क्या दृष्टि 'परा' पर ही टिकी नही रह सकती ?

—'अज्ञेय'

'इत्यलम्' की भूमिका

यह 'अज्ञेय' की समस्त फुटकर कविताओ का सग्रह है।

प्रथम खड 'भग्नदूत' मे उस नाम की पुस्तक की चुनी हुई कविताएँ है : लेखक का अनुरोध है कि जो कविताएँ इस चुनाव मे नही आयीं, उन का अस्तित्व नही है, ऐसा मान लिया जाय।

शेष चारो खंडो की कुछ कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं मे जहाँ-तहाँ छपती रही है, किन्तु अधिकाश यहा पहली बार छप रही है।

'चिन्ता' ('विश्व-प्रिया' और 'एकायन') की कविताएँ इस संग्रह मे नहीं ली गयी : वे कथासूत्र मे गुंथी हुई हैं और अलग अस्तित्व रखती हैं।

'इत्यलम्' शीर्षक इस बात का द्योतक है कि लेखक आत्माभिव्यंजना के दूसरे माध्यम या साधनों के साथ जूझ रहा है; किन्तु उसने और कविता न लिखने की शपथ नही ले ली है।

'हरी घास पर क्षण-भर' की भूमिका

'हरी घास पर क्षण-भर' के उपशीर्ष मे यद्यपि इन कविताओं को '१६४७-४६ की कविताएँ' कहा गया है, तथापि यह लेखक की उस काल की समस्त कविताओं का संग्रह नही, प्रत्युत गीतात्मक कविताओं का कलन ही है।

'इत्यलम्' संग्रह के नाम से आश्वस्त हो कर जिन महानुभाव पाठकों ने चैन की साँस ली होगी, उन्हे इस संग्रह से निराशा होगी ; किन्तु मुझे यह आशंका सदैव रही है कि वे मेरी किसी भी रचना से निराश ही होने के लिए कटिबद्ध—और कदाचित् प्रतिज्ञाबद्ध भी—हैं। अकारण लोगों को चिढ़ाता रहूँ, इतना अवकाश ही मुझे कभी नही मिला; पर संसार में उद्यानों की कमी के कारण जो जहाँ-तहाँ बची हरी घास की थिगलियों को भी उखाड़ फेंकना चाहें, उन के कुंठित अकरुण मन का शासन क्यों मान्य हो ?

मातृ-स्थानीया
बुआ को

पिताजी को

सूची

४. वंचना के दुर्ग (१९४१–१९४३)

६. हरी घास पर क्षण-भर (१९४७–१९४९)

दृष्टि-पथ से तुम जाते हो जब

दृष्टि-पथ से तुम जाते हो जब
तव ललाट की कुंचित अलकों,
तेरे ढरकीले आंचल को,
तेरे पावन चरण-कमल को,
छू कर धन्य भाग अपने को लोग मानते हैं सब के सब।

मैं तो केवल तेरे पथ से
उड़ती रज की ढेरी भर के,
चूम - चूम कर संचय करके
रख-भर लेता हूँ मरकत मणियों-सा अन्तर-कोषों में तब।

पागल झंझा के प्रहार-सा,
सान्ध्य रश्मियों के विहार-सा,
सब कुछ ही यह चला जायगा—
इसी धूलि में अन्तिम आश्रय मर कर भी मैं पाऊँगा दब!

दीपावली का एक दीप

दीपक हूँ, मस्तक पर मेरे अग्नि - शिखा है नाच रही,
यही सोच समझा था शायद आदर मेरा करें सभी !

किन्तु जल गया प्राण-सूत्र जब स्नेह सभी निःशेष हुआ—
बुझी ज्योति मेरे जीवन की शव से उठने लगा धुआँ;

नहीं किसी के हृदय-पटल पर खिंची कृतज्ञता की रेखा,
नहीं किसी की आँखों में आँसू तक भी मैंने देखा !

मुझे विजित लख कर भी दर्शक नहीं मौन हो रहते हैं,
तिरस्कार, विद्रूप - भरे वे वचन मुझे आ कहते हैं—

'बना रखी थी हमने दीपों की सुन्दर ज्योतिर्माला—
रे कृतघ्न, तूने बुझकर क्यों उस को खंडित कर डाला ?'

बत्ती और शिखा

मेरे हृदय - रक्त की लाली
इस के तन में छायी है,
किन्तु मुझे तज दीप-शिखा ने
पर से प्रीति लगायी है।

इस पर मरते देख पतंगे
नहीं चैन मैं पाती हूँ—
अपना भी परकीय हुआ,
यह देख जली मैं जाती हूँ।

•

रहस्य

मेरे उर में क्या अन्तर्हित है,
यदि यह जिज्ञासा हो,
दर्पण ले कर क्षण भर उस में
मुख अपना, प्रिय! तुम लख लो !

यदि उस में प्रतिबिम्बित हो मुख
सस्मित, सानुराग, अम्लान,
'प्रेम-स्निग्ध है मेरा उर भी,'
तत्क्षण तुम यह लेना जान !

यदि मुख पर सोती अवहेला
या रोती हो विकल व्यथा;
दया-भाव से झुक जाना, प्रिय!
समझ हृदय की करुण कथा !

मेरे उर में क्या अन्तर्हित है,
यदि यह जिज्ञासा हो,
दर्पण ले कर क्षण भर उसमें
मुख अपना, प्रिय ! तुम लख लो !

घट

कंकड़ से तू छील-छील कर आहत कर दे,
बाँध गले में डोर, कूप के जल में धर दे।
गीला कपड़ा रख मेरा मुख आवृत कर दे—
घर के किसी अँधेरे कोने में तू धर दे।

जैसे चाहे आज मुझे पीड़ित कर ले तू,
जो जी आवे अत्याचार सभी कर ले तू।
कर लूँगा प्रतिशोध कभी पनिहारिन तुझ से;
नहीं शीघ्र तू द्वन्द्व-युद्ध जीतेगी मुझ से!

निज ललाट पर रख मुझ को जब जायेगी तू—
देख किसी को प्रान्तर् में रुक जायेगी तू।
भाव उदित होंगे जाने क्या तेरे मन में,
सौदामिनि-सी दौड़ जायगी तेरे तन में।

मन्द-हसित, सव्रीड झुका लेगी तू माथा,
तब मैं कह डालूँगा तेरे उर की गाथा।
छलका जल गीला कर दूँगा तेरा अंचल,
अत्याचारों का तुझ को दे दूँगा प्रतिफल!

असीम प्रणय की तृष्णा

१

आशाहीना रजनी के अन्तर् की चाहें,
हिमकर - विरह - जनित वे भीषण आहें
जल-जल कर जब बुझ जाती हैं,

जब दिनकर की ज्योत्स्ना से सहसा आलोकित
अभिसारिका उषा के मुख पर पुलकित
व्रीडा की लाली आती है,

भर देती हैं मेरा अन्तर्
जाने क्या - क्या इच्छाएँ—
क्या अस्फुट, अव्यक्त, अनादि,
असीम प्रणय की तृष्णाएँ !

भूल मुझे जाती हैं अपने जीवन की सब कृतियाँ :
कविता, कला, विभा, प्रतिभा—रह जातीं फीकी स्मृतियाँ ।
अब तक जो कुछ कर पाया हूँ, तृणवत् उड़ जाता है,
लघुता की संज्ञा का सागर उमड़ - उमड़ आता है ।

तुम, केवल तुम—दिव्य दीप्ति-से,
भर जाते हो शिरा - शिरा में,
तुम ही तन में, तुम ही मन में,
व्याप्त हुए ज्यों दामिनि घन में,
तुम, ज्यों धमनी में जीवन-रस, तुम, ज्यों किरणों में आलोक !

२

क्या दूँ, देव ! तुम्हारी इस विपुला विभुता को मैं उपहार ?
मैं—जो क्षुद्रों में भी क्षुद्र, तुम्हें—जो प्रभुता के आगार !

अपनी कविता ? भव की छोटी घटनाएँ जिस का आधार ?
कैसे उस की परिमा में भर दूँ घहराता पारावार ?

अपने निर्मित चित्र ? वही जो असफलता के शव पर स्तूप ?
तेरे कल्पित छाया - अभिनय की छाया के भी प्रतिरूप !

अपनी जर्जर वीणा के उलझे से तारों का संगीत ?
जिस में प्रतिदिन क्षण-भंगुर लय-बुद्बुद होते रहें प्रमीत !

३

विश्वदेव ! यदि एक बार,
पा कर तेरी दया अपार,
हो उन्मत्त, भुला संसार—

मैं ही विकलित, कम्पित हो कर—
नश्वरता की संज्ञा खो कर—
हँस कर, गा कर, चुप हो, रो कर—
क्षण-भर झंकृत हो—विलीन हो—होता तुझ से एकाकार !
बस एक बार !

नहीं तेरे चरणों में—

कानन का सौन्दर्य लूट कर,
सुमन इकट्ठे कर के;
धो सुरभित नीहार-कणों से—
आँचल में मैं भर के,
देव ! आऊँगा तेरे द्वार।
किन्तु नहीं तेरे चरणों में दूँगा वह उपहार !

खड़ा रहूँगा तेरे आगे
क्षण - भर मैं चुपका - सा,
लख कर मेरे कुसुम जगेगी
तेरे उर में आशा,
देव ! आऊँगा तेरे द्वार !
किन्तु नहीं तेरे चरणों में दूँगा कुछ उपहार !

तोड़ - मरोड़ फूल अपने मैं
पथ में बिखराऊँगा;
पैरों से फिर कुचल उन्हें, मैं
पलट चला जाऊँगा।
देव ! आऊँगा तेरे द्वार !
किन्तु नहीं तेरे चरणों में दूँगा वह उपहार !

क्यों? मैंने भी तेरे हाथों
सदा यही पाया है—
सदा मुझे जो प्रिय था उसको
तू ने ठुकराया है!
देव! आऊँगा तेरे द्वार!
किन्तु नहीं तेरे चरणों में दूँगा वह उपहार!

शायद आँखें भर आवें—
आँचल से मुख ढँक लूँगा;
आँखों में, उर में, क्या है, यह
तुम्हें न दिखने दूँगा!
देव! आऊँगा तेरे द्वार!
किन्तु नहीं तेरे चरणों में दूँगा कुछ उपहार!

कहो कैसे मन को समझा लूँ ?

कहो कैसे मन को समझा लूं ?
झंझा के द्रुत आघातों-सा,
द्युति के तरलित उत्पातों-सा,
था वह प्रणय तुम्हारा, प्रियतम !
फिर क्यों, फिर क्यों इच्छा होती, बद्ध उसे कर डालूं ?

सान्ध्य रश्मियों के उच्छ्वासों,
ताराओं की कम्पित साँसों-
सा था मिलन तुम्हारा, प्रियतम !
फिर क्यों, फिर क्यों आँखें कहतीं, उर में उसे बसा लूं ?

उल्का-कुल की रज, परिमल-सी,
जलप्रपात के उत्थित जल-सी,
थी वह करुणा दृष्टि तुम्हारी—
फिर क्यों, प्रियतम ! अन्तर् रोता, युग-युग उस को पा लूं ?
कहो कैसे मन को समझा लूं ?

प्रश्नोत्तर

"प्रिय ! मेरे चरणों से पागल-सी ये लहरें टकराती हैं;
मेरे सूने उर-निकुंज में क्या कह-कह कर जाती हैं ?"
"एक बार तेरे सुन्दर चरणों को जब वे छू लेती हैं—
'नहीं पुनः यह भाग्य मिलेगा', यही सोच वे रो देती हैं।"

"प्रिय ! जब मेरे गात्रों में आ कर छिप जाता है मलयानिल,
तब किस ध्वनि से मुखरित हो उठता है मेरा विलुलित आँचल?"
"तेरा कुसुम-कलेवर पहले ही है उस से अधिक सुवासित—
यही देख वह ठंडी आहें भर लेता है हो कर लज्जित !"

"प्रिय ! जब तुझ को मिलने आती हूँ मैं खेतों में से हो कर,
तब क्यों सुमन नाच उठते हैं अपने तन की सुध-बुध खो कर ?"
"तू इतनी सुन्दर हो कर भी बनी हुई है इतनी भोली—
यही देख मन-रंजित हो तुझ से करते हैं सुमन ठठोली !"

गीति–१

माँझी, मत हो अधिक अधीर !

साँझ हुई, सब ओर निशा ने फैलाया निज चीर,
नभ से अंजन बरस रहा है नहीं दीखता तीर।
किन्तु सुनो ! मुग्धा वधुओं के चरणों का गम्भीर
किंकिण-नूपुर शब्द लिये आता है मन्द समीर।
थोड़ी देर प्रतीक्षा कर लो साहस से, हे वीर—
छोड़ उन्हें क्या तटिनी-तट पर चल दोगे बेपीर ?

माँझी, मत हो अधिक अधीर !

गीति–२

छोड़ दे माँझी, तू पतवार !

आती है दुकूल से मृदुल किसी के नूपुर की झंकार,
काँप-काँप कर 'ठहरो, ठहरो !' की करती-सी करुण पुकार।
किन्तु अँधेरे में मलिना-सी, देख, चिताएँ हैं उस पार,
मानों वन में तांडव करती मानव की पशुता साकार।
छोड़ दे माँझी, तू पतवार !

जाना बहुत दूर है, पागल - सी घहराती है जल-धार,
झूम-झूम कर मत्त प्रभंजन करता है भय का संचार,
पर मीलित कर आँखों को तू तज दे जीवन के आधार—
उषा गगन में नाच रही होगी जब पहुँचेंगे उस पार !
छोड़ दे माँझी, तू पतवार !

पूर्व-स्मृति

पहले भी मैं इसी राह से
जा कर फिर फिर हूँ आया—
किन्तु झलकती थी इस में तब
मधु की मन-मोहक माया !

हरित-छटामय-विटप-राजि पर विलुलित थे पलाश के फूल—
मादकता-सी भरी हुई थी मलयानिल में परिमल धूल !

पागल-सी भटकी फिरती थी वन में भौंरों की गुंजार,
मानों पुष्पों से कहती हो, 'मधुमय है मधु का संसार !'

कुंजों में तू छिपती फिरती—करती सरिता-सी कल्लोल,
व्यंग्य-भाव से मुझ से कहती, 'क्या दोगे फूलों का मोल ?'

हँस-हँस कर तू थी खिल जाती सुन कर मेरी करुण पुकार—
'मायाविनि ! मरीचिका है यह, या छलना, या तेरा प्यार ?'

कई बार मैं इसी राह से
जा कर फिर-फिर हूँ आया—
किन्तु झलकती थी इस में तब
मधु की मन-मोहक माया !

चला जा रहा हूँ इस पथ से ले निज मूक व्यथा उद्भ्रान्त,
किन्तु आज छाया है इस पर नीरव - सा नीरस एकान्त !

पुष्पच्छटा - विहीन खड़े रोते - से लखते हैं तरुवर—
पीड़ा की उच्छ्वासों - सी कँपती हैं शाखाएँ सरसर !

बीता मधु, भूला मधु - गायन बिखरी भौंरों की गुंजार;
दबा हुआ सूने में फिरता वन - विहगों का हाहाकार !

अन्तस्तल में मीठा - मीठा गूंज रहा तेरा उपहास—
मानस - मरु में कहाँ छिपाऊँ मैं अपने प्राणों की प्यास ?

कई बार मैं इसी राह से
जा कर फिर-फिर हूँ आया—
किन्तु कहाँ इस में पाऊँ
वह मधु की मन-मोहक माया !

प्रस्थान

रणक्षेत्र जाने से पहले सैनिक ! जी भर रो लो !
अन्तर् की कातरता को आँखों के जल से धो लो !

मत ले जाओ साथ जली पीड़ा की सूनी साँसें,
मत पैरों का बोझ बढ़ाओ ले कर दबी उसाँसें !

वहाँ ? वहाँ पर केवल तुम को लड़-लड़ मरना होगा,
गिरते भी औरों के पथ से हट कर पड़ना होगा !

नहीं मिलेगा समय वहाँ यादें जीवित करने को,
नहीं निमिष-भर भी पाओगे हृदय दीप्त करने को !

एक लपेट—धधकती ज्वाला—धूम्रकेतु फिर काला;
शोणित, स्वेद, कीच से भर जायेगा 'जीवन-प्याला !

अभी, अभी पावन बूंदों से हृदय-पटल को धो लो !
तोड़ो सेतु-बन्ध आँखों के सैनिक ! जी भर रो लो !

पराजय गान

विजय ? विजेता ! हा ! मैं तो हूँ स्वयं पराजित हो आया !
जग में आदर पाने के अधिकार सभी मैं खो आया।

नहीं शत्रु को शोणित-सिक्त, धराशायी कर आया हूँ,
नहीं छीन कर संकुल रण में शत्रु-पताका लाया हूँ।

नहीं सुनाने आया हूँ मैं, वीरों की वीरत्व कथा;
हो कर विजित, विमुख हो रण से घर आया हूँ यथा-तथा।

गया कभी था अखिल विश्व को जीत स्वयं शासन करने—
गर्वपूर्ण उन्नत ललाट पर भैरव शोण-तिलक धरने;

समर-भूमि की लाल धूल में बिखर गयीं वे आशाएँ;
आया हूँ मैं पलट आज, खो अपनी सब अभिलाषाएँ !

मैं हूँ विजित, तिरस्कृत, घायल अंग हुए जाते हैं श्रान्त,
लौट किन्तु आया हूँ घर को जाने किस आशा में भ्रान्त !

केवल कहीं किसी के टूटे हृदय-गेह के कोने में,
सुप्त प्रणय के आँचल में मुख छिपा, दीन हो रोने में—

इतने ही तक सीमित है मम घायल प्राणों की अब प्यास,
और कहीं आश्रय पाने की नहीं रही अब मुझ को आस !

भग्न गेह की टूटी प्राचीरों का कर फिर से निर्माण,
आत्म-भर्त्सना की छाया में सुला-सुला बिखरे अरमान;

अन्धकार में तड़प-तड़प कर मुझ को अब सो जाने दो –
विजिगीषा की स्मृति में विजित व्यथा को आज भुलाने दो !

शिशिर के प्रति

मेरे प्राण-सखा हो बस तुम एक, शिशिर !

छायी रहे चतुर्दिक् शीतल छाया,
रोमांचित, ईषत्कम्पित होती रहे क्षीण यह काया;
ऊपर नील गगन में, धवल-धवल, कुछ फटे-फटे से,
अपने ही आन्तरिक क्षोभ से सकुचे, कटे-कटे से,
जीवन में उद्देश्यहीन-सी गति से आगे बढ़ते बादल—
घिरे रहें बादल, पर बरस न पावें—
मेरे भी—मैं रहूँ नियन्त्रित, मूक, यदपि आँखें भर आवें।
अरे ओ मेरे प्राण-सखा, शिशिर !

सूनी - सूनी, खड़ी ठिठुरती, पर्णहीन वृक्षों की पाँत,
सिर पर काली शाखें मानों झुलस गये हों गात;
कहीं न फूल न पत्ते, अंकुर तक भी दीख न पावें,
नहीं सिद्धि के सुखद फलों की स्मृतियाँ हमें चिढ़ावें—
सम-दुःखी ओ विधुर शिशिर !

केवल दूर खड़ी, सकुचाती, कुछ-कुछ डरी हुई-सी,
आगे बढ़ती, फिर-फिर रुक-रुक जाती, सहम गयी-सी,
वह—भावी वसन्त की आशा—वह, तेरी जीवन-आधार !

सखे ! सदा वह दूर रहेगी—निष्कलंक वह आभा,
हम-तुम उस को छू न सकेंगे—हम-तुम—जिन के
कर कलुषित हैं अन्तर्दाह - धुएँ से !
चाहते ही हम रह जावेंगे, नहीं कभी पावेंगे।

फिर भी—वैसी ही मेरे प्राणों में रहे अनबुझी आशा,
झिपती चाहे जावे, किन्तु न बुझने पावे !
इन प्राणों में, जो होते ही रहे सदा से विफल-प्रयास—
कभी न कुछ भी कर पाये—रोने तक को समझे आयास।

केवल भरे रहे, अस्फुट आकांक्षाओं से—
भरे रहे—बस ! भरे रहे, हा फूट न पाये !
यह साकांक्ष विफलता ही
रहे धुरा उस मैत्री की
जिस पर घूम रहे हैं प्राण, पा कर साथ तुम्हारा
अरे, समदुःखी, सहभोगी, ओ वंचित प्राण - सखा,
शिशिर !

अपना गान

इसी में ऊषा का अनुराग,
इसी में भरी दिवस की श्रान्ति,
इसी में रवि की सान्ध्य-मयूख
इसी में रजनी की उद्भ्रान्ति;

आर्द्र-से तारों की कँपकँपी,
व्योमगंगा का शान्त प्रवाह,
इसी में मेघों की गर्जना,
इसी में तरलित विद्युद्दाह;

कुसुम का रस-परिपूरित हृदय,
मधुप का लोलुपतामय स्पर्श
इसी में काँटों का काठिन्य,
इसी में स्फुट-कलियों का हर्ष

इसी में बिखरा स्वर्ण-पराग,
इसी में सुरभित मन्द बतास,
ऊर्मि-माला का पागल नृत्य,
ओस की बूंदों का उल्लास;

विरहिणी चकवी की क्रन्दना,
परभृता - भाषित - कोमल तान,
इसी में अवहेला की टीस,
इसी में प्रिय का प्रिय आह्वान;

भरी आँखों की करुणा - भीख,
रिक्त हाथों से अंजलि दान,
पूर्ण में सूने की अनुभूति—
शून्य में स्वप्नों का निर्माण;

इसी में तेरा क्रूर प्रहार,
इसी में स्नेह - सुधा का दान—
कहूँ इस को जीवन - इतिहास
या कहूँ केवल अपना गान ?

लक्षण

आँसू से भरने पर आँखें
और चमकने लगती हैं।
सुरभित हो उठता समीर
जब कलियाँ झड़ने लगती हैं।

बढ़ जाता है सीमाओं से
जब तेरा यह मादक हास,
समझ तुरत जाता हूँ मैं—
'अब आया समय बिदा का पास।'

अनुरोध

अभी नहीं—क्षण भर रुक जाओ,
महफ़िल के सुनने वालो!
मत वंचित हो कोसो, हे
संगीत - सुमन चुनने वालो!

नहीं मूक होगी यह वाणी—भंग न होगी तान—
टूट गयी यदि वीणा तो भी झनक उठेंगे प्राण!

कवि

एक तीक्ष्ण अपांग से कविता उत्पन्न हो जाती है,
एक चुम्बन में प्रणय फलीभूत हो जाता है,

पर मैं अखिल विश्व का प्रेम खोजता फिरता हूँ,
क्योंकि मैं उस के असंख्य हृदयों का गाथाकार हूँ।

एक ही टीस से आँसू उमड़ आते हैं,
एक झिड़की से हृदय उच्छ्वसित हो उठता है।

पर मैं अखिल विश्व की पीड़ा संचित कर रहा हूँ—
क्योंकि मैं जीवन का कवि हूँ।

बन्दी-स्वप्न

धनवन्तरि

और

अन्य कारा-बन्धुओं को

बद्ध !

बद्ध !
हृत वह शक्ति, किये थी जो लड़ मरने को सन्नद्ध !

हृत, इन लौह - शृंखलाओं में घिर कर,
पैरों की उद्धत गति, आगे ही बढ़ने को तत्पर;
व्यर्थ हुआ यह आज, निहत्थे हाथों ही से वार—
खंडित जो कर सकता वह जग-व्यापी अत्याचार,
निष्फल, इन प्राचीरों की जड़ता के आगे—
आँखों की वह दृप्त पुकार कि मृत भी सहसा जागे !
बद्ध !

ओ जग की निर्बलते ! मैंने कब कुछ माँगा तुझ से !
आज शक्तियाँ मेरी ही फिर विमुख हुईं क्यों मुझ से ?
मेरा साहस ही परिभव में है मेरा प्रतिद्वन्द्वी
किस ललकार-भरे स्वर में कहता है, 'बन्दी ! बन्दी !'
इस घन निर्जन में एकाकी प्राण सुन रहे, स्तब्ध,
हहर-हहर कर फिर-फिर आता एक प्रकम्पित शब्द—
बद्ध !

घृणा का गान

सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान !

तुम, जो भाई को अछूत कह वस्त्र बचा कर भागे,
तुम, जो बहिनें छोड़ बिलखती, बढ़े जा रहे आगे !
रुक कर उत्तर दो, मेरा है अप्रतिहत आह्वान—
सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान !

तुम, जो बड़े - बड़े गद्दों पर ऊँची दूकानों में,
उन्हें कोसते हो जो भूखे मरते हैं खानों में,
तुम, जो रक्त चूस ठठरी को देते हो जल-दान—
सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान !

तुम, जो महलों में बैठे दे सकते हो आदेश,
'मरने दो बच्चे, ले आओ खींच पकड़ कर केश !'
नहीं देख सकते निर्धन के घर दो मुट्ठी धान—
सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान !

तुम, जो पा कर शक्ति कलम में हर लेने की प्राण—
'निश्शक्तों' की हत्या में कर सकते हो अभिमान !
जिन का मत है, 'नीच मरें, दृढ़ रहे हमारा स्थान—'
सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान !

तुम, जो मन्दिर में वेदी पर डाल रहे हो फूल,
और इधर कहते जाते हो, 'जीवन क्या है ? धूल !'
तुम, जिस की लोलुपता ने ही धूल किया उद्यान—
सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान !

तुम, सत्ताधारी, मानवता के शव पर आसीन,
जीवन के चिर-रिपु, विकास के प्रतिद्वन्द्वी प्राचीन,
तुम, श्मशान के देव ! सुनो यह रण-भेरी की तान—
आज तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान !

कीर की पुकार

तड़पी कीर की पुकार—
प्राण !

अनुक्रम बार-बार
विह्वल नाच उठा यह मेरा छोटा-सा संसार—
प्राण !

कितनी जीवनियों की नीरवता
छिन्न हुई उस स्वर से सहसा
मेरा यह संगीत - अपरिचित
जगत् हुआ ध्वनि से आलोकित
दुर्निवार कर - स्पर्श प्रताड़ित
स्मृति-वीणा झनझना उठी—वह लोकोत्तर झंकार !
प्राण !
प्राण !

कीर, तुम्हारा रूप-रंग है पृथ्वी का आशा-सकेत—
यह तीखा आलाप तुम्हारा क्यों फिर घोर व्यथा का हेतु ?
ओ मधु के मधु-गायक पक्षी ! क्यों व्यापक है तेरा गान ?

वर्षा की गति धारासार,
शरत्, शिशिर का पीड़ा-भार,
खर-निदाघ के बरस रहे अंगार—
और—और—अतिरिक्त कहीं कुछ जिसे न बांधे शब्द-विधान!
स्मृति की शक्ति—विगत जीवन की ममता—
उस अजस्र से तारतम्य की क्षमता—
उर के भीतर कहीं जमा कर,
निज पुकार के क्षण में अखिल विश्व तड़पा कर,
कुछ जो हो जाता निःस्पन्द, मूक!
और हम—तद्गत, विरही, जागरूक!
प्राण!
प्राण! प्राण!

कीर, अगर कुछ कहने को समर्थ मैं रहता—
विवश प्रेरणा से बस कहता,
चुप हो, चुप हो, बन्द करो यह तान—
इस छोटे जग में न उठाओ अखिल भुवन का गान!
पर कैसे? जब एक बार तुम बोले—
तत्क्षण लुटा जगत्, अन्तर्-पट खोले!
एक तथ्य रह गया जगत् में दुर्निवार,
विह्वल नाच उठा यह मेरा छोटा-सा संसार—
दुस्सह, अनुक्रम बार-बार
तड़पी कीर की पुकार—
प्राण!
प्राण! प्राण! प्राण!

बन्दी और विश्व

मैं तेरा कवि! ओ तट-परिमित उच्छल वीचि-विलास!
प्राणों में कुछ है अबाध—तनु को बाँधे हैं पाश!

मैं तेरा कवि! ओ सन्ध्या की तम-घिरती द्युति कोर!
मेरे दुर्बल प्राण-तन्तु को व्यथा रही झकझोर!

मैं तेरा कवि! ओ निशि-विष-प्याले के छलके रिक्त!
परवशता के दाह-नीर से मेरा मन अभिषिक्त!

मैं तेरा कवि! ओ प्रात:तारे के नेत्र, हताश!
मेरा भी तो हृत-वैभव से पूर्ण सकल आकाश!

मैं तेरा कवि! ओ कारा की बद्ध अबाध विकलते!
उर पीड़ा-निधि, पर आँखों से आँसू नहीं निकलते!

जीवन-दान

मुक्त बन्दी के प्राण !

पैरों की गति शृंखल-बाधित
क्या कारा - कलुषाच्छादित
पर किस विकल प्रेरणा-स्पन्दित
उद्धत उस का गान !

अंग-अंग उस का क्षत-विह्वल
हृदय हताशाओं से घायल
किन्तु असह्य रणातुर उस की
आत्मा का आह्वान !

उस की भूख-प्यास भी नियमित
उस की अन्तिम सम्पति परिहृत,
लज्जित पर. बलि-दान देख कर
उस का जीवन-दान !

मुक्त बन्दी के प्राण !

बन्दी-गृह की खिड़की

ओ रिपु! मेरे बन्दी-गृह की तू खिड़की मत खोल!

बाहर—स्वतन्त्रता का स्पन्दन!
मुझे असह उस का आवाहन!
मुझ कंगले को मत दिखला वह दुस्सह स्वप्न अमोल!

कह ले जो कुछ कहना चाहे,
ले जा, यदि कुछ अभी बचा है!
रिपु हो कर मेरे आगे वह एक शब्द मत बोल!

बन्दी हूँ मैं, मान गया हूँ,
तेरी सत्ता जान गया हूँ—
अचिर निराशा के प्याले में फिर वह विष मत घोल!

अभी दीप्त मेरी ज्वाला है,
यदपि राख ने ढँप डाला है
उसे उड़ाने से पहले तू अपना वैभव तोल!

नहीं ! झूठ थी वह, निर्बलता !
भभक उठी अब वह विह्वलता !
खिड़की ? बन्धन ? सँभल कि तेरा आसन डाँवाडोल !

मुझ को बाँधें बेड़ी - कड़ियाँ ?
गिन तू अपने सुख की घड़ियाँ !
मुझ अबाध के बन्दी-गृह की तू खिड़की मत खोल !

विशाल जीवन

है यदि तेरा हृदय विशाल, विराट् प्रणय का इच्छुक क्यों ?
है यदि प्रणय अतल, तो अपनी अतल-पूर्ति का भिक्षुक क्यों ?

दावानल की काल-ज्वाल जलती-बुझती एकाकी ही—
जीवन ही यदि ऊंचा तो ऊँची समाधि हो रक्षक क्यों ?

अखंड ज्योति

कर से कर तक, उर से उर तक बढ़ती जा, ओ ज्योति हमारी,
छप्पर-तल से महल-शिखर तक चढ़ती जा, ओ ज्योति हमारी !

पैंतिस कोटि शिखाएँ जल कर कोना-कोना दीपित कर दें—
एक भव्य दीपक - सा भारत जगती को आलोकित कर दे !

हमें दुःख है, हमें क्लेश है—उसे जला डालेगी ज्वाला;
पद - दलितों के उर से उठ कर सारा नभ छा लेगी ज्वाला !

हमने न्याय नहीं पाया है, हम ज्वाला से न्याय करेंगे—
धर्म हमारा नष्ट हो गया, अग्नि-धर्म हम हृदय धरेंगे !

मिटना स्वयं, बनाना जग को; जलना स्वयं, जलाना जग को;
शोणित तक से सींच, स्वच्छ रखना उस स्वतन्त्रता के मग को !

जग में बहुत मिलेंगे आज़ादी के गाने गानेवाले,
गली - गली में गत गौरव के पोले गाल बजानेवाले—

ले तू इस अभिमानी, दानी भारत के भी फूल निराले,
दीवाने परवाने, हँस कर अपना - आप जलानेवाले !

बीते दिन अब निश्चलता के, शान्त कहाँ, उद्भ्रान्त कहाँ हैं ?
युद्ध हेतु कटिबद्ध हुए बस, पैंतिस कोटि कृतान्त यहाँ हैं !

कहीं बच गया हो कोई तो तू उसमें भी स्फूर्ति जगा दे—
विश्व कँपा दे, ज्योति ! जगत् में आग लगा दे ! आग लगा दे !

गा दो

कवि, एक बार फिर गा दो !
एक बार इस अन्धकार में फिर आलोक दिखा दो !

अब मीलित हैं मेरी आँखें
पर मैं सूर्य देख आया हूँ;
आज पड़ी हैं कड़ियाँ पर मैं
कभी भुवन भर में छाया हूँ;
उस अबाध आतुरता को कवि, फिर तुम छेड़ जगा दो !

आज त्यक्त हूँ, पर दिन था जब
सारा जग अँजुली में ले कर
ईश्वर - सा मैंने उस को था
एक स्वप्न पर किया निछावर !
उस उदारता को ज्वाला - सा उर में पुनः जला दो !

बहुत दिनों के बाद आज, कवि !
मुझ में फिर कुछ जाग रहा है,
दर्प - भरे अप्रतिहत स्वर में
जाने क्या कुछ माँग रहा है,
मेरे प्राणों के तारों को छू कर फिर तड़पा दो !

अभी शक्ति है कवि, इस जग को
धूली - सा अँजुली में ले कर
बिखरा दूँ, बह जाने दूँ, या
रचूँ किसी नूतन ही लय पर !
तुम मुझको अनथक कृतित्त्व का भूला राग सुना दो !
कवि एक बार फिर गा दो !

'द चाइल्ड इज़ द फ़ादर आफ़ द मैन'

तरुण अरुण तो नवल प्रात में
ही दिखलाई पड़ता लाल—
इसी लिए मध्याह्न में अवनि
को झुलसाती उस की ज्वाल।

मानव किन्तु तरुण शिशु को ही
दबना, झुकना सिखला कर,
आशा करते हैं कि युवक का
ऊँचा उठा रहेगा भाल!

दिवाकर के प्रति दीप

लो यह मेरी ज्योति, दिवाकर !

उषा-वधू के अवगुंठन - सा है लालिम गगनाम्बर
मैं मिट्टी हूँ, मुझे बिखरने दो मिट्टी में मिल कर !
लो यह मेरी ज्योति दिवाकर !

मैं पथ-दर्शक बन कर जागा
करता रजनी को आलोकित—
या मैं अनिमिष रूप ज्वाल-सा
किये रहा शलभों को विकलित;
यह मिथ्या अभिमान नहीं मुझ को छू पाया क्षण-भर।
लो यह मेरी ज्योति दिवाकर !

छोटा-सा भी मैं हूँ खर-रवि
का प्रतिनिधि काली तमसा में—
रक्षक अथक खड़ा हूँ ले कर
उस की थाती मंजूषा में;
नहीं रात-भर जगा किया हूँ इसी मोह में पड़ कर !
लो यह मेरी ज्योति दिवाकर !

मैं मिट्टी हूँ, पर यह मेरी
अचिर साधना की ज्वाला है,
मैंने अविरल अपनी आहुति
दे-दे कर इस को पाला है;
स्रष्टा हूँ मैं, यदपि सफल मैं हुआ सृजन में जल कर !
यह लो मेरी ज्योति, दिवाकर !

जान किसी अनथक ज्वाला से
दीप्त तुम्हारी भी है छाती,
मैं ही तुम को सौंप रहा हूँ
यह अपने प्राणों की थाती।
मूल्य जान कर इस का रखना उर में इसे बसा कर !
यह लो मेरी ज्योति, दिवाकर !

ज्योति तुम्हारी अक्षय है पर
जला-जला कर नहीं बनी है—
और इधर यह शिखा कम्पमय—
यह मेरी कितनी अपनी है !
मैं मिट्टी हूँ, पर तुम होओ धन्य इसे अपना कर !
यह लो मेरी ज्योति, दिवाकर !

उषा-वधू के अवगुंठन-सा है लालिम गगनाम्बर—
मैं मिट्टी हूँ, मुझे बिखरने दो मिट्टी में मिल कर !
यह लो मेरी ज्योति, दिवाकर !

रक्त-स्नात वह मेरा साकी

मैंने कहा, "कंठ सूखा है दे दे मुझे सुरा का प्याला।
मैं भी पी कर आज देख लूं यह तेरी अंगूरी हाला।"
—एक हाथ में सुरापात्र ले एक हाथ से घूंघट थामे
नीरव पग धरती, कम्पित-सी बढ़ी चली आयी मधुबाला।

मैंने कहा, 'कंठ सूखा है किन्तु नयन भी तो हैं प्यासे।
एक माँग मधुशाला से है किन्तु दूसरी मधुबाला से!
ग्रीवा तनिक झुका कर, भर-भर आँखों से दो जाम उँड़ेलो—
प्यास अगर मिट सकती है तो उस चितवन की तीव्र सुरा से!"

बाला बोली नहीं, न उसने अवगुंठन से हाथ हटाया—
एक मूक इंगित से केवल प्याला मेरी ओर बढ़ाया;
मानो कहा, 'यही है मेरी मीठी कल्प-सुरा की गगरी—
इस में झाँको, देख सकोगे, मेरी रूप-शिखा की छाया!'

मैं बोला, "अच्छा, ऐसे ही सही, अनोखे मेरे साकी,
मेरी साध यही है, रह जावे अरमान न मेरा बाकी—

प्याले में तेरी आँखों की मस्त खुमारी भरी हुई है—
एक जाम में मिट जावेगी प्यास कंठ की, प्यास हिया की !"

मैंने थाम लिया तब प्याला आतुरता से हाथ बढ़ा कर
लगा देखने अपनी प्यासी आँखें उस के बीच गड़ा कर :
पुलक उठा मेरा तन दर्शन के पहले ही उत्कंठा से—
और अधर मधुबाला के भी खुले तनिक शायद मुसका कर !

मैंने देखा, एक लजीले बादल का-सा मृदु अवगुंठन—
उस के पीछे—उफ़, कितनी अनगिन मधुबालाओं का नर्तन !
मैंने देखा—मैंने देखा—इन्हीं दग्ध आँखों से देखा !—
इस तीखी उन्माद ज्वाल के कण-कण में जीवन का स्पन्दन !

मैंने देखा, केवल अपने रूखे केशों से अवगुंठित
वहाँ करोड़ों मधुबालाएँ खड़ीं विवसना और अकुण्ठित
द्राक्षा के कुचले गुच्छे-सी मर्माहत वे झुकी हुई थीं—
और रक्त उन के हृदयों का होता एक कुंड में संचित !

मैंने देखा, वहाँ करोड़ों भभकों में फिर उफन-उफन कर
भस्मीभूत अस्थियों के अनगिन स्तर की छननी में छन कर
एक मनोमोहक उन्मादक झिलमिल निर्झर रूप ग्रहण कर
वही रक्त बढ़ता आता था मेरी मोहन मदिरा बन कर !

मैंने देखा, हुआ नयनमय उस लालिम मदिरा का कण-कण,
मेरे कानों में सहसा भर गया एक प्रलयंकर गर्जन—
"प्यास कंठ की, प्यास हिया की? ले लो झाँकी आज प्रिया की—
कल्प-सुरा छलकी आती है इन अनगिन नयनों में इस क्षण!"

मैंने देखा, वहाँ करोड़ों आँखों में उत्तप्त व्यथा है
मैंने सुना, "कहो कैसी मधुबाला की मधुमयी कथा है?"
अट्टहास में उस, विद्रूप भरा था कितना उग्र, भयानक—
"क्यों? कड़वी है? क्या इलाज इस का, जब साकी ही विधवा है!"

तड़प उठा मैं, चीख उठा, अब मेरा, हा! निस्तार कहाँ है?
मेरे हित कलंक की कारिख का बस अब गुरु-भार यहाँ है—
फट जा आज धरित्री! मेरी दुस्सह लज्जा आज मिटा दे—
रक्त-स्नात वह मेरा साकी मेरी दुखिया भारत माँ है!

मत माँग

मूढ़, मुझ से बूँदें मत माँग !
मैं वारिधि हूँ, अतल रहस्यों का दानी अभिमानी,
पूछ न मेरी इस व्यापकता से चुल्लू-भर पानी !
तुझे माँगना ही है तो ये ओछी प्यासें त्याग—
मेरे खारेपन में भी मग्न-मय होना बस माँग !
मूढ़ मुझ से बूँदें मत माँग !

मुझ से स्निग्ध ताप मत माँग !
मैं कृतान्त हूँ, मेरी अगणित जिह्वाओं की ज्वाल,
जग की झूठी मृदुताओं की भस्मकरी विकराल !
आशा की इस मधु विडम्बना से ओ पागल जाग !
मेरा वरद हस्त देता है—आग, आग, बस आग !
मुझ से स्निग्ध ताप मत माँग !

अकाल-घन

घन अकाल में आये
आ कर रो गये।

अगिन निराशाओं का जिस पर
पड़ा हुआ था धूसर अम्बर,
उस तेरी स्मृति के आसन को
अमृत-नीर से धो गये।
घन अकाल में आये
आ कर रो गये।

जीवन की उलझन का जिस को
मैंने माना था अन्तिम हल
वह भी विधि ने छीना मुझ से
मुझे मृत्यु भी हुई हलाहल!
विस्मृति के अँधियारे में भी
स्मृति के दीप सँजो गये—
घन अकाल में आये
आ कर रो गये।

जीवन-पट के पार कहीं पर
काँपीं क्या तेरी भी पलकें ?
तेरे गत का भाल चूमने
आयीं बढ़ पीड़ा की अलकें ?
मैं ही डूबा, या हम दोनों
घन-सम घुल-घुल खो गये ?
घन अकाल में आये
आ कर रो गये।

यहाँ निदाघ जला करता है—
भौतिक दूरी अभी बनी है ;
किन्तु ग्रीष्म में उमस सरीखी
हाय निकटता भी कितनी है !
उठे बवंडर, हहराये, फिर
थकी साँस से सो गये !
घन अकाल में आये
आ कर रो गये।

कसक रही है स्मृति कि अलग तू
पर प्राणों की सूनी तारें,
आग्रह से कम्पित हो कर भी
बेबस कैसे तुझे पुकारें ?
'तू है दूर', यहीं तक आ कर
वे हत-चेतन हो गये !
घन अकाल में आये
आ कर रो गये !

चलो, चलें !

चलो, चलें !
जीवन-पट की धुँधली लिपि को व्यथा नीर से धो चलें !

कहाँ फूल-फल; पत्ते-पल्लव ? दावानल में राख हुए सब,
उजड़े-से मानस-कानन में नया बीज हम बो चलें !

इच्छा का है इधर रजत-रथ, उधर हमारा कंटकमय पथ
जीवन की बिखरी विभूति पर दो आँसू हम रो चलें !

विश्व-समर में लुटकर आये, यह ममत्त्व भी क्यों रह जाये ?
हो ही चुके पराजित तो अब अपनापन भी खो चलें !

आँख दिये की काजल-काली, चिर-जागर से है अरुणाली,
स्नेही ! हम भी थके हुए हैं चिर-निद्रा में सो चलें !

चलो चलें !
जीवन-पट की धुँधली लिपि को व्यथा नीर से धो चलें !

ध्रुव

मानव की अन्धी आशा
के दीप! अतीन्द्रिय तारे!
आलोक-स्तम्भ-सा स्थावर
तू खड़ा, भवाब्धि किनारे!

किस अकथ कल्प से मानव
तेरी ध्रुवता को गाते:
हो प्रार्थी, प्रत्याशी वे
उस को हैं शीश नवाते!

वे भूल भूल जाते हैं
जीवन का जीवन—स्पन्दन:
तुझ में है स्थिर कुछ तो है
तेरा यह अस्थिर कम्पन!

दूरवासी मीत मेरे !

दूरवासी मीत मेरे !
पहुँच क्या तुझ तक सकेंगे काँपते ये गीत मेरे ?

आज कारावास में उर तड़प उट्ठा है पिघल कर
बद्ध सब अरमान मेरे फूट निकले हैं उबल कर
याद तेरी को कुचलने के लिए जो थी बनायी—
वह सुदृढ़ प्राचीर मेरी हो गयी है छार जल कर !
प्यार के प्रिय भार से हैं सजल नैन विनीत मेरे !
दूरवासी मीत मेरे !

आज मैं कितना विवश हूँ बद्ध हैं मेरी भुजाएँ—
प्राण पर आराधना की साध को कैसे भुलायें ?
कोठरी में तन झुके, मन विनत हो तेरे पदों में—
गीत मेरे घेर तुझ को मूक हों, सुध भूल जायें !
हाय अब अभिमान के वे दिन गये हैं बीत मेरे !
दूरवासी मीत मेरे !

विपर्यास

तेरी आँखों में पर्वत की
झीलों का निस्सीम प्रसार,
मेरी आँखों बसा नगर की
गली-गली का हाहाकार।

तेरे उर में वन्य अनिल-सी
स्नेह-अलस, भोली बातें
मेरे उर में जनाकीर्ण मग
की सूनी-सूनी रातें!

मैं वह धनु हूँ—

मैं वह धनु हूँ, जिसे साधने
में प्रत्यंचा टूट गयी है
स्खलित हुआ है बाण, यदपि ध्वनि
दिग्दिगन्त में फूट गयी है—

प्रलय-स्वर है वह, या है बस
मेरी लज्जाजनक पराजय,
या कि सफलता! कौन कहेगा
क्या उस में है विधि का आशय!

क्या मेरे कर्मों का संचय
मुझ को चिन्ता छूट गयी है—
मैं बस जानूँ, मैं धनु हूँ, जिस
की प्रत्यंचा टूट गयी है!

प्रार्थना

इस विकास गति के आगे है कोई दुर्दम शक्ति कहीं,
जो जग की स्रष्टा है, मुझ को तो ऐसा विश्वास नहीं।

फिर भी यदि कोई है जिस में सुनने की सहृदयता है;
और साथ ही पूरा करने की कठोर तन्मयता है;

तो मैं आज बिना छोड़े अपनी सक्षमता का अभिमान
कलाकार से कलाकारवत् उस से यह माँगूंगा दान :

'गुरु ! मैं तुझ से सीखूं, पर अक्षुण्ण रखूं अपना विश्वास,
बुझ कर नहीं, दीप्त रह कर ही मैं आ पाऊँ तेरे पास !

' किये चलूं जो बने, और यदि सफल कभी भी हो पाऊँ—
मार्ग रोकनेवाले यश-स्तम्भों को कभी न ललचाऊँ।

'चिरजीवन कैसे पाऊँगा, इस डर से मैं नहीं डरूँ—
अपने ही निर्मम हाथों मैं अपना स्मारक ध्वस्त करूँ!'

विश्वास

तुम्हारा यह उद्धत विद्रोही
घिरा हुआ है जग से, पर है सदा अलग, निर्मोही !

जीवन सागर हहर-हहर कर,
उसे लीलने आता दुर्धर,
पर वह बढ़ता ही जावेगा लहरों पर आरोही !

जगती का अविरल कोलाहल,
कर न सकेगा उस को बेकल,
ओ आलोक ! नयन उस के अनिमिष लखते तुम को ही !

कैसे खोयेगा वह पथ को—
तुम्हीं एक जब पथ-दर्शक हो,
एक साँकरा मग है, और अकेला एक बटोही !
तुम्हारा यह उद्धत विद्रोही !

हिय-हारिल

जिसने
निर्झर से लौटते हुए
पथ की धूल में बैठ कर
चाँद देखा था
उसी को

रहस्यवाद

मैं भी एक प्रवाह में हूँ—
लेकिन मेरा रहस्यवाद ईश्वर की ओर उन्मुख नहीं है,
मैं उस असीम शक्ति से
सम्बन्ध जोड़ना चाहता हूँ—
अभिभूत होना चाहता हूँ—
जो मेरे भीतर है।

शक्ति असीम है,
मैं शक्ति का एक अणु हूँ,
मैं भी असीम हूँ।
एक असीम बूंद—
असीम समुद्र को अपने भीतर प्रतिबिम्बित करती है;
एक असीम अणु
उस असीम शक्ति को जो उसे प्रेरित करती है
अपने भीतर समा लेना चाहता है,
उस की रहस्यमयता का परदा खोल कर
उस में मिल जाना चाहता है—
यही मेरा रहस्यवाद है।

२

लेकिन जान लेना तो अलग हो जाना है ;
बिना विभेद के ज्ञान कहाँ है ?
और मिलना है भूल जाना,
जिज्ञासा की झिल्ली को फाड़ कर
स्वीकृति के रस में डूब जाना,
जान लेने की इच्छा को भी मिटा देना ;
मेरी माँग स्वयं अपना खंडन है
क्योंकि वह माँग है,
दान नहीं है ।

३

असीम का नंगापन ही सीमा है :
रहस्यमयता वह आवरण है जिस से ढँक कर हम
उसे असीम बना देते हैं ।
ज्ञान कहता है कि जो आवृत है, उस से मिलन नहीं
हो सकता,
—यद्यपि मिलन अनुभूति का क्षेत्र है ;
अनुभूति कहती है कि जो नंगा है वह सुन्दर नहीं है,
—यद्यपि सौन्दर्य-बोध ज्ञान का क्षेत्र है ।

मैं इस पहेली को हल नहीं कर पाया हूँ
यद्यपि मैं रहस्यवादी हूँ ;
—क्या इसी लिए मैं केवल एक अणु हूँ
और जो मेरे आगे है वह एक असीम ?

कीर

प्रच्छन्न गगन का वक्ष चीर
जा रहा अकेला उड़ा कीर।
जीवन से मानों कम्प-युक्त—
आरक्त धार का तीक्ष्ण तीर!

प्रकटित कर उर की अमिट साध,
पा कर जीवन की गति अबाध,
कृषि-हरित-रंग में दृश्यमान—
उक्षिप्त अवनि का प्राण-ह्लाद!

आरक्त कीर का चंचु, क्योंकि
आरक्त सदा ही ह्लाद-गान।
आरक्त कंठ-रेखा—कि ह्लाद
का दुर्निवार प्राणावसान!

कैसी बिखरी वह मूक पीर!
उल्लसित हुआ कैसा समीर!
प्रच्छन्न गगन का वक्ष चीर—
जा रहा अकेला उड़ा कीर!

वन-पारावत

भग्नावशेष पर मन्दिर के,
नभ-पृष्ठ भूमि पर चित्रित-से,
दो वन-पारावत बैठे हैं।
मधु आगम से उन में जागी कोई दुर्निवार झंकार—
क्योंकि प्रकृति-लय से हैं मिले हुए उन के प्राणों के तार !

कुछ माँग रही इठला-इठला,
निज उच्छल गरिमा से विकला
चंचल कपोत की नृत्यकला।
कृत्रिम निग्रह-पथ के पथिकों को मानों कह जाती हो—
कितनी तुच्छ कामना वह कि दबाने से दब जाती हो !

चंचु-द्वय की मंजुल क्रीडा,
हर चुकी कपोती की व्रीडा।
जागी अपूर्णता की पीड़ा।
लज्जा तो आकांक्षा को आकर्षक करने ही को है—
और प्रणय का चरम प्रस्फुटन आत्म-व्यंजना ही तो है !

खग-युगल ! करो सम्पन्न प्रणय,
क्षण के जीवन में हो तन्मय।
हो अखिल अवनि ही निभृत निलय।
हाय तुम्हारी नैसर्गिकता ! मानव-नियम निराला है—
वह तो अपने ही से अपना प्रणय छिपानेवाला है !

सूर्यास्त

अन्तिम रवि की अन्तिम रक्तिम किरण छू चुकी हिमगिरि-भाल,
अन्तिम रक्त रश्मि के नर्तन को दे चुके चीड़-तरु ताल।
नीलिम शिला-खंड के पीछे दीप्त मरण की अन्तिम ज्वाल—
जग को दे अन्तिम आश्वासन अस्ताचल की ओट हुए रवि !

खोल हृदय-पट तू दिखला दे अपना उल्लस प्राणोन्माद,
शब्द-शब्द की कम्पन-कम्पन में भर दे अतुलित आह्लाद,
अक्षर-अक्षर हो समर्थ बिखराने को जीवन-अवसाद—
फिर भी वर्णित हुई न होगी इस की एक किरण भर की छवि !

स्वयं उसी भैरव सौन्दर्य - नदी में बह जा !
नीरवता द्वारा अपनी असफलता कह जा !
निरुद्वेग, मीठे विषाद में चुप ही रह जा
इस रहस्य अपरिम के आगे आदर से नतमस्तक, रे कवि !

प्रेरणा

जब-जब थके हुए हाथों से
छूट लेखनी गिर जाती है,
'सूखा उर का रस-स्रोत' यह
शंका मन में फिर जाती है;

तभी, देवि, क्यों सहसा दीख,
झपक, छिप जाता तेरा स्मित मुख—
कविता की सजीव रेखा-सी
मानस-पट पर तिर आती है?

गोप-गीत

नीला नभ, छितराये बादल,
दूर कहीं निर्झर का मर्मर,
चीड़ों की ऊर्ध्वंग भुजाएँ,
भटका-सा पड़कुलिया का स्वर;

संगी एक पार्वती बाला
आगे पर्वत की पगडंडी:
इस अबाध में मैं होऊँ बस
बढ़ते ही जाने का बन्दी!

निमीलन

निशा के बाद उषा है, किन्तु—
देख बुझता रवि का आलोक
अकारण हो कर जैसे मौन—
ज्योति को देते विदा सशोक ;

तुम्हारी मीलित आँखें देख—
किसी स्वप्निल निद्रा में लीन
हृदय जाने क्यों सहसा हुआ—
आर्द्र कम्पित-सा, कातर, दीन !

राखी

मेरे प्राण स्वयं राखी - से
प्रतिक्षण तुझ को रहते घेरे—
पर उन के ही संरक्षक हैं
अथक स्नेह के बन्धन तेरे।

भूल गये हम कौन कौन है
कौन किसे भेजे अब राखी—
अपनी अचिर, अभिन्न एकता
की बस यही भूल हो साखी !

स्मृति

नये बादल में तेरी याद !

आदिम प्रेयसि ! किसी समय
जीवन के उजड़े कानन में—
विस्तृत, आशा-हीन गगन में
किसी अजाने ही क्षण में ;

आशा - अभिलाषा की तप्त
उसाँसों से हो पुंजीभूत—
तू अकाल-घन-सी आयी थी
बन वसन्त का जीवन-दूत !

नयी बूँदों में तेरा प्यार !

अन्तिम प्रणयिनि ! बूँद-बूँद में
सींच रहा हूँ तेरा नाम :
सदा नये हैं मेरे आँसू
उन का पावस है अविराम !

इस अनन्त के अचिर जाल में
अभिनव कौन, कौन प्राचीन—
मैं हूँ, तेरी स्मृति है, और
विरह-रजनी है सीमा-हीन !

उषा के समय

प्रियतम, पूर्ण हो गया गान !
हम अब इस मृदु अरुणाली में होवें अन्तर्धान !

लहर - लहर का कलकल अविरल
काँप - काँप अब हुआ अचंचल
व्यापक मौन मधुर कितना है, गद्गद अपने प्राण !

ये सब चिर - वांछित सुख अपने
बाद उषा के होंगे सपने—
फिर भी इस क्षण के गौरव में हम-तुम हों अम्लान ।

नभ में राग - भरी रेखाएँ
एक एक कर मिटती जाएँ—
किसी शक्ति के स्वागत को है यह बहुरंग वितान ।

मरण ? पिघल कर सजल भक्ति से
मिल जाना उस महच्छक्ति से !
करें मृत्यु का क्यों न उल्लसित हो कर हम आह्वान !

राग समाप्त ! चलो अब जागो
निद्रा में नव - चेतन माँगो !
नयी उषा का मृत्यु हमारी से होगा उत्थान !

प्रियतम, पूर्ण हो गया गान !

अन्तिम आलोक

सन्ध्या की किरण - परी ने
उठ अरुण पंख दो खोले—
कम्पित-कर गिरि-शिखरों के
उर - छिपे रहस्य टटोले।

देखी उस अरुण किरण ने
कुल पर्वत-माला श्यामल—
बस एक शृंग पर हिम का
था कम्पित कंचन झलमल।

प्राणों में हाय पुरानी
क्यों कसक जग उठी सहसा ?
वेदना - व्योम से मानों—
खोया-सा स्मृति-घन बरसा।

तेरी उस अन्त - घड़ी में
तेरी आँखों में, जीवन !
ऐसा ही चमक उठा था
तेरा अन्तिम आँसू - कन !

तन्द्रा में अनुभूति

उस तम - घिरते नभ के पट पर
स्वप्न - किरण रेखाओं से,
बैठ झरोखे में बुनता था
जाल मिलन के प्रिय ! तेरे।

मैंने जाना, मेरे पीछे
सहसा तू आ हुई खड़ी—
झनक उठी टूटे - से स्वर से
स्मृति-शृंखल की कड़ी - कड़ी।

बोला हृदय, "लौट कर देखो—
प्रतिमा खो मत जाय कहीं!"
किन्तु कहीं वह स्वप्न न निकले
इस से साहस हुआ नहीं।

हाय, अवस्था कैसी थी वह !
वज्राहत - सा हृदय रहा।
जाना जब तब अकथ व्यथा से
अंग - अंग था कसक रहा !

यही रहेगा क्या प्रियतम ! अब
सदा के लिए अपना प्यार ?
तन्द्रा में अनुभूति, किन्तु
जागृति में केवल पीड़ा - भार !

अतीत की पुकार

जेठ की सन्ध्या के अवसाद-
भरे धूमिल नभ का उर चीर
ज्योति की युगल-किरण-सम काँप
कौंध कर चले गये दो कीर ।

भंग कर वह नीरव निर्वेद,
सुन पड़ी मुझे एक ही बार
काल को करती - सी ललकार,
विहग - युग की संयुक्त पुकार !

कीर दो, किन्तु एक था गान ;
एक गति, यद्यपि दो थे प्राण ।
झड़ गये थे आवरण ससीम
शक्तिमय इतना था आह्वान !

गये वे, खड़ा ठगा - सा मैं
शून्य में रहा ताकता, दूर
कहीं से पा कर निर्मम चोट
हुआ माया का शीशा चूर ।

प्राण, तुम चली गयीं अत्यन्त
कारुणिक, मिथ्या है यह मोह—
देख कर वे दो उड़ते कीर
कर उठा अन्तस्तल विद्रोह !

व्यक्ति मेरा इह-बन्धन-मुक्त
उड़ चला अप्रतिरुद्ध, अबाध,
स्वयं-चालित थे मेरे पंख—
और तुम—तुम थीं मेरे साथ !

मुझे बाँधे है यह अस्तित्व
मूक तुम, किस पर्दे के पार
किन्तु खा कर आस्था की चोट—
खुल गये बन्दी-गृह के द्वार !

यही है मिलन-मार्ग का सेतु
हृदय की यह स्मृति-प्यार-पुकार—
इसी में, रह कर भी विच्छिन्न
हमारा है अनन्त अभिसार !

प्राण, तुम्हारी पद-रज फूली

प्राण, तुम्हारी पद - रज फूली।
मुझ को कंचन हुई तुम्हारे चंचल चरणों की यह धूली।

आयी थीं तो जाना भी था—
फिर भी आओगी, दुख किस का ?
एक बार जब दृष्टि-करों से पद-चिह्नों की रेखा छू ली !

वाक्य अर्थ का हो प्रत्याशी,
गीत शब्द का कब अभिलाषी ?
अन्तर् में पराग-सी छायी है स्मृतियों की आशा-धूली।
प्राण, तुम्हारी पद - रज फूली।

धूल-भरा दिन

पृथ्वी तो पीड़ित थी कब से
आज न जाने नभ क्यों रूठा।
पीलेपन में लुटा, पिटा-सा
मधु-सपना लगता है झूठा।

मारुत में उद्देश्य नहीं है
धूल छानता वह आता है,
हरियाली के प्यासे जग पर
शिथिल पांडु-पट छा जाता है।

पर यह धूली मन्त्र-स्पर्श से
मेरे अंग-अंग को छू कर
कौन संदेसा कह जाती है
उर के सोये तार जगा कर!

२

"मधु आता है! तुम को नव-
जीवन का दाम चुकाना होगा,
मँजी देह होगी तब ही उस
पर केसरिया बाना होगा!

"परिवर्तन के पथ पर जिन को
हँसते चढ़ जाना है सूली,
उन्हें पराग न अंगराग, उन
वीरों पर सोहेगी धूली!

"झंझा आता है झूल-झूल
दोनों हाथों में भरे धूल,
अंकुर तब ही फूटेंगे जब
पात-पात झर चुकें फूल!"

३

मत्त वैजयन्ती निज गा ले
शुभागते, तू नभ-भर छा ले!
मुझ को अवसर दे कि शून्यता
मुझ को अपनी सखी बना ले!

धूल-धूल जब छा जायेगी
विकल विश्व का कोना-कोना
केंचुल-सा तब झर जायेगा
अग-जग का यह रोना-धोना

आज धूल के जग में बन्धन
एक-एक कर के टूटेंगे,
निर्मम मैं, निर्मम वसन्त, बस
अविरल भर-भर कर फूटेंगे!

मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ !

प्रिय मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ !
बह गया जग मुग्ध सरि-सा मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ !

तुम विमुख हो, किन्तु मैंने कब कहा उन्मुख रहो तुम ?
साधना है सहसनयना—बस, कहीं सम्मुख रहो तुम !
विमुख-उन्मुख से परे भी तत्त्व की तल्लीनता है—
लीन हूँ मैं, तत्त्वमय हूँ अचिर चिर-निर्वाण में हूँ !
मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ !

क्यों डरूँ मैं मृत्यु से या क्षुद्रता के शाप से भी ?
क्यों डरूँ मैं क्षीण-पुण्या अवनि के सन्ताप से भी ?
व्यर्थ जिस को मापने में हैं विधाता की भुजाएँ—
वह पुरुष मैं, मर्त्य हूँ पर अमरता के मान में हूँ !
मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ !

रात आती है, मुझे क्या ? मैं नयन मूँदे हुए हूँ,
आज अपने हृदय में मैं अंशुमाली को लिये हूँ !
दूर के उस शून्य नभ में सजल तारे छलछलायें—
वज्र हूँ मैं, ज्वलित हूँ, बेरोक हूँ, प्रस्थान में हूँ !
मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ !

मूक संसृति आज है, पर गूंजते हैं कान मेरे,
बुझ गया आलोक जग में, धधकते हैं प्राण मेरे।
मौन या एकान्त या विच्छेद क्यों मुझ को सताये?
विश्व झंकृत हो उठे, मैं प्यार के उस गान में हूँ!
मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!

जगत है सापेक्ष, याँ है कलुष तो सौन्दर्य भी है,
हैं कठिनताएँ अनेकों—अन्त में सौकर्य भी है।
किन्तु क्यों विचलित करे मुझ को चिरन्तन की कमी यह—
एक है अद्वैत जिस स्थल आज मैं उस स्थान में हूँ!
मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!

वेदना अस्तित्व की, अवसान की दुर्भावनाएँ—
भव-मरण, उत्थान-अवनति, दुःख सुख की प्रक्रियाएँ—
आज सब संघर्ष मेरे पा गये सहसा समन्वय:
आज अनिमिष देख तुम को लीन मैं चिर ज्ञान में हूँ!
मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!

बह गया जग मुग्ध सरि-सा मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ—
प्रिय मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!

विधाता वाम होता है

कर चुका था जब विधाता
प्यार के हित सौध स्थापित
विरह की विद्युन्मयी प्रतिमा
वहाँ कर दी प्रतिष्ठित !
बुद्धि से तो क्षुद्र मानव
भी चलाता काम अपने—
वामता से हीन विधि की
शक्ति क्या होती प्रमाणित !

भर दिया रस प्रथम उस में,
कर दिया फिर प्यार वर्जित—
तब बने अन्धे पतंगे,
हो चुका जब दीप निर्मित !
पत्थरों के बुत हुए
निष्प्राण स्थापित मन्दिरों में—
और उन को पूजने को
हाथ मृदु, अनुराग - रंजित !

मोह में आदिम पुरुष ने
ज्ञान का फल तोड़ खाया—
इस लिए उसने प्रिया - सह
चिरन्तन निर्वास पाया ;
कौन पूछे, उन अभागों को
किया पथ - भ्रष्ट जिसने—
शत्रु जग के उस चिरन्तन
साँप को किसने बनाया ?

खेलती विधि मानवों से ?
काश हम भी खेल सकते—
भाग्य के हमले अनोखे
हम हँसी से झेल सकते !
वह हमें शतरंज के
प्यादों सरीखा है हटाता—
काश हम में शक्ति होती
भाग्य को हम ठेल सकते !

तर्क का सामर्थ्य हम में
है, इसी में भूल जाते—
जानना हैं चाहते हम
पूछते हैं, छटपटाते !
बुद्धि ही इस मोह-तम में
ज्योति अन्तिम है हमारी—
किन्तु क्या उस की परिधि में
नियति को हम बाँध पाते !

नाम तेरा

पूछ लूँ मैं नाम तेरा!
मिलन रजनी हो चुकी, विच्छेद का अब है सबेरा।

जा रहा हूँ—और कितनी देर अब विश्राम होगा—
तू सदय है, किन्तु तुझ को और भी तो काम होगा।
प्यार का साथी बना था, विघ्न बनने तक रुकूँ क्यों?
समझ ले, स्वीकार कर ले यह कृतज्ञ प्रणाम मेरा!
पूछ लूँ मैं नाम तेरा!

और होगा मूर्ख जिसने चिर-मिलन की आस पाली—
'पा चुका—अपना चुका'—है कौन ऐसा भाग्यशाली?
इस तड़ित् को बाँध लेना दैव से मैंने न माँगा—
मूर्ख उतना हूँ नहीं, इतना नहीं है भाग्य मेरा!
पूछ लूँ मैं नाम तेरा!

श्वास की हैं दो क्रियाएँ—खींचना, फिर छोड़ देना,
कब भला सम्भव हमें इस अनुक्रम को तोड़ देना?
श्वास की उस सन्धि-सा है इस जगत् में प्यार का पल
रुक सकेगा कौन कब तक बीच पथ में डाल डेरा!
पूछ लूँ मैं नाम तेरा!

घूमते हैं गगन में जो दीखते स्वच्छन्द तारे—
एक आँचल में पड़े भी अलग रहते हैं बिचारे—
भूल में पल - भर भले छू जायँ उन की मेखलाएँ—
दास मैं भी हूँ नियति का क्या भला विश्वास मेरा !
पूछ लूँ मैं नाम तेरा !

प्रेम को चिर - ऐक्य कोई मूढ़ होगा तो कहेगा—
विरह की पीड़ा न हो तो प्रेम क्या जीता रहेगा ?
जो सदा बाँधे रहे वह एक कारावास होगा—
घर वही है जो थके को रैन भर का हो बसेरा !
पछ लूँ मैं नाम तेरा !

प्रकृत है अनुभूति ; वह रस - दायिनी निष्पाप भी है,
मार्ग उस का रोकना ही पाप भी है, शाप भी है ;
मिलन हो, मुख चूम लें ; आयी बिदा, लें राह अपनी—
मैं न पूछूँ, तुम न जानो क्या रहा अंजाम मेरा !
पूछ लूँ मैं नाम तेरा !

रात बीती, यदपि उस में संग भी था, रंग भी था,
अलस अंगों में हमारे स्फूर्त एक अनंग भी था ;
तीन की उस एकता में प्रलय ने तांडव किया था—
सृष्टि - भर को एक क्षण - भर बाहुओं ने बाँध घेरा !
पूछ लूँ मैं नाम तेरा !

सोच मत, 'यह प्रश्न क्यों जब अलग ही हैं मार्ग अपने ?'
सच नहीं होते, इसी से भूलता है कौन सपने ?
मोह हम को है नहीं पर द्वार आशा का खुला है—
क्या पता फिर सामना हो जाय तेरा और मेरा !
पूछ लूँ मैं नाम तेरा !

कौन हम-तुम ? दुःख-सुख होते रहे, होते रहेंगे;
जान कर परिचय परस्पर हम किसे जा कर कहेंगे ?
पूछता हूँ क्योंकि आगे जानता हूँ क्या बदा है—
प्रेम जग का, और केवल नाम तेरा, नाम मेरा !

पूछ लूं मैं नाम तेरा—
मिलन रजनी हो चुकी, विच्छेद का अब है सबेरा !

•

ताजमहल की छाया में

मुझ में यह सामर्थ्य नहीं है मैं कविता कर पाऊँ,
या कूँची से रंगों ही का स्वर्ण-वितान बनाऊँ।
साधन इतने नहीं कि पत्थर के प्रासाद खड़े कर—
तेरा, अपना और प्यार का नाम अमर कर जाऊँ।

पर वह क्या कम कवि है जो कविता में तन्मय होवे
या रंगों की रंगीनी में कटु जग-जीवन खोवे?
हो अत्यन्त निमग्न, एक-रस, प्रणय देख औरों का—
औरों के ही चरण-चिह्न पावन आँसू से धोवे?

हम-तुम आज खड़े हैं जो कन्धे से कन्ध मिलाये,
देख रहे हैं, दीर्घ युगों से अथक पाँव फैलाये
व्याकुल आत्म-निवेदन-सा यह दिव्य कल्पना-पक्षी :
क्यों न हमारा हृदय आज गौरव से उमड़ा आये!

मैं निर्धन हूँ, साधनहीन; न तुम ही हो महारानी,
पर साधन क्या? व्यक्ति साधना ही से होता दानी!
जिस क्षण हम यह देख सामने स्मारक अमर प्रणय का
प्लावित हुए, वही क्षण तो है अपनी अमर कहानी!

चिन्तामय

आज चिन्तामय हृदय है प्राण मेरे थक गये हैं—
बाट तेरी जोहते ये नैन भी तो पक गये हैं;
निबल आकुल हृदय में नैराश्य एक समा गया है
वेदना का क्षितिज मेरा आँसुओं से छा गया है।
आज स्मृतियों की नदी से शब्द तेरे पी रहा हूँ
प्यास मिटने की असम्भव आस पर ही जी रहा हूँ!

पा न सकने पर तुझे संसार सूना हो गया है—
विरह के आघात से प्रिय! प्यार दूना हो गया है!
जब नहीं अनुभूति मिलती लोग दर्शन चाहते हैं,
उदधि बदले बूंद पा कर विधि-विधान सराहते हैं;
किन्तु दर्शन की कमी ही बन गयी अनुभूति मुझ को
यह तृषित चिर-वंचना ही मिली दिव्य-विभूति मुझ को!

दीखता है, प्राप्ति का कंगाल बन कर मैं रहूँगा;
स्मित-विहृत मुख से सदा गाथा भविष्यत् की कहूँगा!
जगत् सोचेगा कि इस कवि ने विरह जाना नहीं है,
विष-लता का विकच काला फूल पहिचाना नहीं है,
जब कि उस के तिक्त फल को आज लौं मैं खा रहा हूँ—
जब कि तिल-तिल भस्म अपने को किये मैं जा रहा हूँ!

किन्तु मुझ को समय उस का दुःख करने का नहीं है—
भक्त तेरे को यहाँ अवकाश मरने का नहीं है।
भक्त का कोई समय रह जाय भी आराधना से—
व्यस्त वह उस में रहे आराधना की साधना से!
यदि सफल है दिवस वह जिस में भरा है प्यार तेरा—
रैन भी सूनी न होगी अंक ले अभिसार तेरा!

किन्तु कोरे तर्क से कब भक्त का उर भर सका है?
मेघ का घन-घोर गर्जन कब तृषा को हर सका है?
बिखर जाते गान हैं सब व्यर्थ स्वर-सन्धान मेरे—
छटपटाते बीतते हैं दीर्घ साँझ - विहान मेरे—
आज छू दे मन्त्र से, ओ दूर के मेहमान मेरे—
आज चिन्तामय हृदय है थक गये हैं प्रान मेरे!

निवेदन

मैं जो अपने जीवन के क्षण-क्षण के लिए लड़ा हूँ,
अपने हक के लिए विधाता से भी उलझ पड़ा हूँ,
सहसा शिथिल पड़ गया है आक्रोश हृदय का मेरे—
आज शान्त हो तेरे आगे छाती खोल खड़ा हूँ।

मुझे घेरता ही आया है यह माया का जाला,
मुझे बाँधती ही आयी है इच्छाओं की ज्वाला;
मेरे कर का खड्ग मुझी से स्पर्द्धा करता आया—
साधन आज मुक्ति का हो तेरे कर की वरमाला!

मर्म दुख रहा है, पर पीड़ा तो है सखी पुरानी,
व्यथा-भार से नहीं झुका है यह मस्तक अभिमानी;
आज चाहता हूँ कि मौन ही रहे निवेदन मेरा—
स्वस्ति-वचन में ही हो जावे मेरी पूर्ण कहानी!

क्षण-भर सम्मोहन छा जावे !

क्षण-भर सम्मोहन छा जावे !
क्षण - भर स्तम्भित हो जावे यह
अधुनातन जीवन का संकुल—
ज्ञान - रूढ़ि की अनमिट लीकें
हृत्पट से पल - भर जावें धुल,
मेरा यह आन्दोलित मानस, एक निमिष निश्चल हो जावे !
क्षण-भर सम्मोहन छा जावे !

मेरा ध्यान अकम्पित है, मैं
क्षण में छवि कर लूँगा अंकित,
स्तब्ध हृदय फिर नाम - प्रणय से
होगा दुस्सह गति से स्पन्दित !
एक निमिष-भर, बस! फिर विधि का घन प्रलयंकर बरसा आवे
क्रूर काल - कर का कराल शर मुझ को तेरे वर - सा आवे !
क्षण-भर सम्मोहन छा जावे !

मेरी थकी हुई आँखों को

मेरी थकी हुई आँखों को
किसी ओर तो ज्योति दिखा दो—
कुज्झटिका के किसी रन्ध्र से
ही लघु रूप - किरण चमका दो
अनचीती ही रहे बाँसुरी,
साँस फूंक दो, चाहे उन्मन—

मेरे सूखे प्राण - दीप में
एक बूंद तो रस बरसा दो!

निरालोक

निरालोक यह मेरा घर रहने दो !
सीमित स्नेह, विकम्पित बाती—
इन दीपों में नहीं समायेगी मेरी यह जीवन-थाती ;
पंच - प्राण की अनभिप लौ से
ही वे चरण मुझे गहने दो—
निरालोक यह मेरा घर रहने दो !

घर है उस की आँचल - छाया,
किस माया में मैंने अपना यह अर्पित मानस भरमाया?
अहंकार की इस विभीषिका
को तमसा ही में ढहने दो !
निरालोक यह मेरा घर रहने दो !

शब्द उन्हीं के जिन को सुख है,
अर्थ - लाभ का मोह उन्हें जिन को कुछ दुख है;
शब्द - अर्थ से परे, मूक,
मेरी जीवन - वाणी बहने दो—
निरालोक यह मेरा घर रहने दो !

स्वर अवरुद्ध, कंठ है कुंठित,
पैरों की गति रुद्ध, हाथ भी बद्ध, शीश भू-लुंठित,
उस की ओर चेतना - सरिणी
को ही बहने दो; बहने दो !
निरालोक यह मेरा घर रहने दो !

द्वितीया

मेरे सारे शब्द प्यार के किसी दूर विगता के जूठे :
तुम्हें मनाने हाय कहाँ से ले आऊँ मैं भाव अनूठे ?
तुम देती हो अनुकम्पा से मैं कृतज्ञ हो ले लेता हूँ—
तुम रूठीं—मैं मन मसोस कर कहता, भाग्य हमारे रूठे !

मैं तुम को सम्बोधन कर मीठी-मीठी बातें करता हूँ,
किन्तु हृदय के भीतर किस की तीखी चोट सदा सहता हूँ ?
बातें सच्ची हैं, यद्यपि वे नहीं तुम्हारी हो सकती हैं—
तुम से झूठ कहूँ कैसे जब उस के प्रति सच्चा रहता हूँ ?

मेरा क्या है दोष कि जिस को मैंने जी भर प्यार किया था,
प्रात-किरण ज्यों नव-कलिका में जिस को उर में धार लिया था,
मुझ आतुर को छोड़ अकेली जाने किस पथ चली गयी वह—
एक आग के फेरे कर के जिस पर सब कुछ वार दिया था ?

मेरा क्या है दोष कि मैंने तुम को बाद किसी के जाना ?
अपना जब छिन गया, पराये धन का तब गौरव पहचाना ?

प्रथम बार का मिलन चिरन्तन सोचो, कैसे हो सकता है—
जब इस जग के चौराहे पर लगा हुआ है आना-जाना ?

होगी यह कामुकता जो मैं तुम को साथ यहाँ ले आया—
किसी गता के आसन पर जो बरबस मैंने तुम्हे बिठाया,
किन्तु देखता हूँ, मेरे उर में अब भी वह रिक्त बना है,
निर्बल हो कर भी मैं उस की स्मृति से अलग कहाँ हो पाया ?

तुम न मुझे कोसो, लज्जा से मस्तक मेरा झुका हुआ है,
उर में वह अपराध व्यक्त है ओठों पर जो रुका हुआ है—
आज तुम्हारे सम्मुख जो उपहार रूप रखने आया हूँ
वह मेरा मन-फूल दूसरी वेदी पर चढ़ चुका हुआ है !

फिर भी मैं कैसे आया हूँ क्यों कर यह तुम को समझाऊँ—
स्वयं किसी का हो कर कैसे मै तुम को अपना कह पाऊँ ?
पर मन्दिर की माँग यही है वेदी रहे न क्षण-भर सूनी
वह यह कब इंगित करता है किस की प्रतिमा वहाँ बिठाऊँ ?

नहीं अंग खो कर लकड़ी पर हृदय अपाहिज का थमता है
किन्तु उसी पर धीरे-धीरे पुनः धैर्य उस का जमता है।
उर उस को धारे है, फिर भी तेरे लिए खुला जाता है—
उतना आतुर प्यार न हो पर उतनी ही कोमल ममता है !

शायद यह भी धोखा ही हो तब तुम सच मानोगी इतना :
एक तुम्हीं को दे देता हूँ उस से बच जाता है जितना ।
और छोड़ कर मुझ को वह निर्मम इतनी अब है संन्यासिनि—
उस को भोग लगा कर भी तो बच जाता है जाने कितना !

प्यार अनादि स्वयं है, यद्यपि हम में अभी-अभी आया है,
बीच हमारे जाने कितने मिलन - विग्रहों की छाया है—
मति तो उस के साथ गयी, पर यह विचार कर रह जाता हूँ—
वह भी थी विडम्बना विधि की यह भी विधना की माया है!

उस अत्यन्तगता की स्मृति को फिर दो सूखे फूल चढ़ा कर
उस दीपक की अनझिप ज्वाला आदर से थोड़ा उकसा कर
मैं मानो उस की अनुमति से उस की याद हरी करता हूँ—
उस से कही हुई बातें फिर-फिर तेरे आगे दुहरा कर!

मैंने आहुति बन कर देखा—

मैं कब कहता हूँ जग मेरी दुर्धर गति के अनुकूल बने,
मैं कब कहता हूँ जीवन-मरु नन्दन-कानन का फूल बने ?

काँटा कठोर है, तीखा है, उस में उस की मर्यादा है,
मैं कब कहता हूँ वह घट कर प्रान्तर् का ओछा फूल बने ?

मैं कब कहता हूँ मुझे युद्ध में कहीं न तीखी चोट मिले ?
मैं कब कहता हूँ प्यार करूँ तो मुझे प्राप्ति की ओट मिले ?

मैं कब कहता हूँ विजय करूँ—मेरा ऊँचा प्रासाद बने ?
या पात्र जगत् को श्रद्धा की मेरी धुँधली-सी याद बने ?

पथ मेरा रहे प्रशस्त सदा क्यों विकल करे यह चाह मुझे ?
नेतृत्व न मेरा छिन जावे क्यों इस की हो परवाह मुझे ?

मैं प्रस्तुत हूँ चाहे मेरी मिट्टी जनपद की धूल बने—
फिर उस धूली का कण-कण भी मेरा गति-रोधक शूल बने !

अपने जीवन का रस दे कर जिस को यत्नों से पाला है—
क्या वह केवल अवसाद - मलिन झरते आँसू की माला है ?

वे रोगी होंगे प्रेम जिन्हें अनुभव-रस का कटु प्याला है—
वे मुर्दे होंगे प्रेम जिन्हें सम्मोहन - कारी हाला है !

मैंने विदग्ध हो जान लिया, अन्तिम रहस्य पहचान लिया—
मैंने आहुति बन कर देखा यह प्रेम यज्ञ की ज्वाला है !

मैं कहता हूँ मै बढ़ता हूँ, मैं नभ की चोटी चढ़ता हूँ,
कुचला जा कर भी धूली-सा आँधी-सा और उमड़ता हूँ

मेरा जीवन ललकार बने, असफलता ही असि-धार बने
इस निर्मम रण में पग-पग का रुकना ही मेरा वार बने !

भव सारा तुझ को है स्वाहा सब कुछ तप कर अंगार बने—
तेरी पुकार - सा दुर्निवार मेरा यह नीरव प्यार बने !

आज थका हिय-हारिल मेरा !

इस सूखी दुनिया में प्रियतम मुझ को और कहाँ रस होगा ?
शुभे ! तुम्हारी स्मृति के सुख से प्लावित मेरा मानस होगा !

※

दृढ़ डैनों के मार थपेड़े
अखिल व्योम को वश में करता,
तुझे देखने की आशा से
अपने प्राणों में बल भरता,

ऊषा से ही उड़ता आया,
पर न मिल सकी तेरी झाँकी—
साँझ समय थक चला विकल
मेरे प्राणों का हारिल-पाखी :

तृषित, श्रान्त, तम-भ्रान्त और
निर्मम झंझा-झोंकों से ताड़ित—
दरस प्यास है असह, वही पर
किये हुए उसको अनुप्राणित !

※

गा उठते हैं, 'आओ आओ !'
केकी प्रिय घन को पुकार कर
स्वागत की उत्कंठा में वे
हो उठते उद्भ्रान्त नृत्यपर !

चातक - तापस तरु पर बैठा
स्वाति - बूँद में ध्यान रमाये,
स्वप्न तृप्ति का देखा करता
'पी ! पी ! पी ! ' की टेर लगाये;

हारिल को यह सह्य नहीं है—
वह पौरुष का मदमाता है :
इस जड़ धरती को ठुकरा कर
उषा-समय वह उड़ जाता है !

"बैठो, रहो, पुकारो - गाओ,
मेरा वैसा धर्म नहीं है ;
मैं हारिल हूँ, बैठे रहना
मेरे कुल का कर्म नहीं है ।

तुम प्रिय की अनुकम्पा माँगो,
मैं माँगूं अपना समकक्षी
साथ-साथ उड़ सकने वाला
एकमात्र वह कंचन-पक्षी !"

यों कहता उड़ जाता हारिल
लेकर निज भुज-बल का सम्बल
किन्तु अन्त सन्ध्या आती है
आखिर भुज-बल है कितना बल?

कोई गाता, किन्तु सदा
मिट्टी से बँधा हुआ रहता है,
कोई नभ-चारी, पर पीड़ा भी
चुप हो कर ही सहता है ;

चातक हैं, केकी हैं, सन्ध्या
को निराश हो सो जाते हैं,
हारिल हैं उड़ते-उड़ते ही
अन्त गगन में खो जाते हैं।

कोई प्यासा मर जाता है
कोई प्यासा जी लेता है
कोई परे मरण-जीवन से
कड़ुवा प्रत्यय पी लेता है

*

आज प्राण मेरे प्यासे हैं
आज थका हिय-हारिल मेरा
आज अकेले ही उस को इस
अँधियारी सन्ध्या ने घेरा।

मुझे उतरना नहीं भूमि पर
तब इस सूने में खोऊँगा
धर्म नहीं है मेरे कुल का—
थक कर भी मैं क्यों रोऊँगा ?

पर प्रिय! अन्त समय में क्या तुम
इतना मुझे दिलासा दोगे—
जिस सूने में मैं लुट चला,
कहीं उसी में तुम भी होगे ?

*

इस सूखी दुनिया में प्रियतम मुझ को और कहाँ रस होगा?
शुभे! तुम्हारी स्मृति के सुख से प्लावित मेरा मानस होगा!

ओ मेरे दिल !

धक् - धक् धक् - धक् ओ मेरे दिल !
तुझ में सामर्थ्य रहे जब तक तू ऐसे सदा तड़पता चल !

जब ईसा को दे कर सूली
जनता न समाती थी फूली,
हँसती थी अपने भाई की
तिकटी पर देख देह झूली,

ताने दे - देकर कहते थे
सैनिक उस को बेबस पा कर :
'ले अब पुकार उस ईश्वर को—
बेटे को मुक्त करे आ कर !'

जब तख्ते पर कर-बद्ध टँगे,
नरवर के कपड़े खून-रँगे,
पाँसे के दाव लगा कर वे
सब आपस में थे बाँट रहे,

तब जिसने करुणा से भर कर
उस जगत्पिता से आग्रह कर
माँगा था, "मुझे यही वर दे :
इन के अपराध क्षमा कर दे !"

वह अन्त-समय विश्वास-भरी
जग से घिर कर संन्यास-भरी
अपनी पीड़ा की तड़पन में
भी पर-पीड़ा से त्रास-भरी

ईसा की सब सहनेवाली
चिर-जागरूक रहनेवाली
यातना तुझे आदर्श बने
कटु सुन मीठा कहनेवाली!
तुझ में सामर्थ्य रहे जब तक तू ऐसे सदा तड़पता चल—
धक्-धक् धक्-धक् ओ मेरे दिल!

२

धक्-धक् धक्-धक् ओ मेरे दिल!
तुझ में सामर्थ्य रहे जब तक तू ऐसे सदा तड़पता चल!
बोधी-तरु की छाया नीचे
जिज्ञासु बने—आँखें मीचे—
थे नेत्र खुल गये गौतम के
जब प्रज्ञा के तारे चमके;
सिद्धार्थ हुआ, जब बुद्ध बना,
जगती ने यह सन्देश सुना—
'तू संघबद्ध हो जा, मानव!
अब शरण धर्म की आ, मानव!'
जिस आत्मदान से तड़प रही
गोपा ने थी यह बात कही—
जिस साहस से निज द्वार खड़े
उसने प्रियतम की भीख सही—
"तू अन्धकार में मेरा था,
आलोक देख कर चला गया;
यह साधन तेरे गौरव का
गौरव द्वारा ही छला गया—
पर मैं अबला हूँ, इसी लिए
कहती हूँ, प्रणत प्रणाम किये,

मैं तो उस मोह-निशा में भी
ओ मेरे राजा, तेरी थी;
अब तुझ से पाकर ज्ञान नया
यह एकनिष्ठ मन जान गया
मैं महाश्रमण की चेरी हूँ—
ओ मेरे भिक्षुक! तेरी हूँ!"
वह मर्माहत, वह चिर-कातर
पर आत्म-दान को चिर-तत्पर
युग-युग से सदा पुकार रहा
औदार्य-भरा नारी का उर!
तुझ में सामर्थ्य रहे जब तक तू ऐसा सदा तड़पता चल—
धक्-धक् धक्-धक् ओ मेरे दिल!

३

धक्-धक् धक्-धक् ओ मेरे दिल!
तुझ में सामर्थ्य रहे जब तक तू ऐसे सदा तड़पता चल!
बीते युग में जब किसी दिवस
प्रेयसि के आग्रह से बेबस,
उस आदिम आदम ने पागल,
चख लिया ज्ञान का वर्जित फल,
अपमानित विधि हुंकार उठी,
हो वज्रहस्त फुफकार उठी,
अनिवार्य शाप के अंकुश से
धरती से एक पुकार उठी:
"तू मुक्त न होगा जीने से,
भव का कड़ुवा रस पीने से—
तू अपना नरक बनावेगा
अपने ही खून-पसीने से!"

तब तुझ में जो दुस्सह स्पन्दन
कर उठा एक व्याकुल क्रन्दन :
"हम नन्दन से निर्वासित हैं
ईश्वर-आश्रय से वंचित है;

पर मैं तो हूँ, पर तुम तो हो—
हम साथी हैं, फिर हो सो हो!
गौरव विधि का होगा क्योंकर
मेरी - तेरी पूजा खो कर?"

उस स्पन्दन ही से मान - भरे,
ओ उर मेरे अरमान-भरे,
ओ मानस मेरे मतवाले—
ओ पौरुष के अभिमान-भरे!

तुझ में सामर्थ्य रहे जब तक तू ऐसे सदा तड़पता चल,
धक् - धक् धक् - धक् ओ मेरे दिल!

उड़ चल, हारिल

उड़ चल, हारिल, लिये हाथ में
यही अकेला ओछा तिनका—
ऊषा जाग उठी प्राची में
कैसी बाट भरोसा किन का !

शक्ति रहे तेरे हाथों में—
छुट न जाय यह चाह सृजन की;
शक्ति रहे तेरे हाथों में—
रुक न जाय यह गति जीवन की !

ऊपर–ऊपर–ऊपर–ऊपर–
बढ़ा चीरता चल दिङ्मंडल:
अनथक पंखों की चोटों से
नभ में एक मचा दे हलचल !

तिनका ? तेरे हाथों में है
अमर एक रचना का साधन—
तिनका ? तेरे पंजे में है
विधना के प्राणों का स्पन्दन !

काँप न, यद्यपि दसों दिशा में
तुझे शून्य नभ घेर रहा है,
रुक न, यदपि उपहास जगत् का
तुझ को पथ से हेर रहा है;

तू मिट्टी था, किन्तु आज
मिट्टी को तूने बाँध लिया है,
तू था सृष्टि, किन्तु स्रष्टा का
गुर तूने पहचान लिया है!

मिट्टी निश्चय है यथार्थ, पर
क्या जीवन केवल मिट्टी है?
तू मिट्टी, पर मिट्टी से उठने
की इच्छा किसने दी है?

आज उसी ऊर्ध्वंग ज्वाल का
तू है दुर्निवार हरकारा
दृढ़ ध्वज-दंड बना यह तिनका
सूने पथ का एक सहारा।

मिट्टी से जो छीन लिया है
वह तज देना धर्म नहीं है;
जीवन-साधन की अवहेला
कर्मवीर का कर्म नहीं है!

तिनका पथ की धूल, स्वयं तू
है अनन्त की पावन धूली—
किन्तु आज तू ने नभ पथ में
क्षण में बद्ध अमरता छू ली!

ऊषा जाग उठी प्राची में—
आवाहन यह नूतन दिन का:
उड़ चल, हारिल, लिये हाथ में
एक अकेला पावन तिनका!

रजनी-गन्धा मेरा मानस !

रजनी - गन्धा मेरा मानस
पा इन्दु - किरण का नेह - परस
छलकाता अन्तस् से स्मृति - रस
उत्फुल्ल, खिले इह से बरबस,
जागा पराग, तन्द्रिल, सालस,
मधु से बस गयीं दिशाएँ दस
हर्षित मेरा जीवन - सुमनस्—
लो, पुलक उठी मेरी नस-नस
जब स्निग्ध किरण-कण पड़े बरस !
तुम से सार्थक मेरी रजनी,
पावस-रजनी से पुण्य-दिवस ;
तू सुधा-सरस, तू दिव्य-दरस,
तू पुण्य - परस मेरा सुधांशु—
इस अलस निशा में चला विकस—
रजनीगन्धा मेरा मानस !

वंचना के दुर्ग

आलां को

जब-जब पीड़ा मन में उमगी

जब - जब पीड़ा मन में उमगी
तुमने मेरा स्वर छीन लिया।
मेरी निःशब्द विवशता में
झरता आँसू-कन बीन लिया।
प्रतिभा दी थी जीवन - प्रसून
से सौरभ - संचय करने की—
क्यों सार निवेदन का मेरे
कहने से पहले चीन्ह लिया ?

सावन-मेघ

१

घिर गया नभ, उमड़ आये मेघ काले,
भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका-सा
विशद, श्वासाहत, चिरातुर
छा गया इन्द्र का नील वक्ष—
वज्र-सा, यदि तड़ित से झुलसा हुआ-सा।

आह, मेरा श्वास है उत्तप्त—
धमनियों में उमड़ आयी है लहू की धार—
प्यार है अभिशप्त—
तुम कहाँ हो, नारि?

२

मेघ-आकुल गगन को मैं देखता था
बन विरह के लक्षणों की मूर्ति—
सूक्ति की फिर नायिकाएँ
शास्त्र-संगत प्रेम-क्रीड़ाएँ,
घुमड़ती थीं बादलों में
आर्द्र, कच्ची वासना के धूम-सी।

जब कि सहसा तड़ित् के आघात से चिर कर
फूट निकला स्वर्ग का आलोक
बाध्य देखा :
स्नेह से आलिप्त,
बीज के भवितव्य से उत्फुल्ल,
बद्ध—
वासना के पंक-सी फैली हुई थी
धारयित्री सत्य-सी निर्लज्ज, नंगी
औ' समर्पित !

आह्वान

ठहर, ठहर, आततायी! ज़रा सुन ले—
मेरे क्रुद्ध वीर्य की पुकार आज सुन जा!
रागातीत, दर्पस्फीत, अतल, अतुलनीय,
मेरी अवहेलना की टक्कर सहार ले—
क्षण-भर स्थिर खड़ा रह ले—
मेरे दृढ़ पौरुष की एक चोट सह ले!

नूतन प्रचंडतर स्वर से
आततायी, आज तुझ को पुकार रहा मैं—
रणोद्यत, दुर्निवार ललकार रहा मैं!
कौन हूँ मैं?
तेरा दीन, दुःखी, पददलित, पराजित,
आज जो कि क्रुद्ध-सर्प-से अतीत को जगा
'मैं' से 'हम' हो गया।

'मैं' के झूठे अहंकार ने हराया मुझे
तेरे आगे विवश झुकाया मुझे,
किन्तु आज मेरे इन बाहुओं में शक्ति है,

मेरे इस पागल हृदय में भरी भक्ति है—
आज क्यों कि मेरे पीछे जागृत अतीत है,
और मेरे आगे है अनन्त
आदि - हीन, शेष - हीन, पथ वह
जिस पर
एक दृढ़ पैर का ही स्थान है—
और वह दृढ़ पैर मेरा है,
गुरु, स्थिर, स्थाणु - सा गड़ा हुआ
तेरी प्राण-पीठिका पै लिंग-सा खड़ा हुआ !

और हाँ, भविष्य के अजनमे प्रवाह से,
भावी नवयुग के ज्वलन्त प्राण-दाह से
प्रबल प्रतापवान्, निविड़ प्रदाहमान,
छोड़ता स्फुलिंग पै स्फुलिंग—
आसपास बाधामुक्त हो बिखेरता
क्षार, क्षार—धूल, धूल—
और वह धूल तेरे गौरव की धूल है :
मेरा पथ तेरे ध्वस्त गौरव का पथ है
और तेरे भूत काले पापों में प्रवहमान
लाल आग
मेरे भावी गौरव का रथ है !

•

अचरज

आज सवेरे
अचरज एक देख मैं आया।

एक घने, पर धूल-भरे-से
अर्जुन तरु के नीचे
एक तार पर बिजली के वे सटे हुए बैठे थे—
दो पक्षी छोटे-छोटे,
घनी छाँह में, जग से अलग; किन्तु परस्पर सलग।
और नयन शायद अधमीचे।
और उषा की धुँधली-सी अरुणाली थी सारा जग सींचे।
छोटे, इतने क्षुद्र कि जग की
सदा सजग आँखों की एक अकेली झपकी—
एक पलक में वे मिट जायें, कहीं न पायें—
छोटे, किन्तु द्वित्व में इतने सुन्दर,
जग-हिय ईर्ष्या से भर जावे;
भर क्यों—भरा सदा रहता है—
छल-छल उमड़ा आवे!
—सलग, प्रणय की आँधी में मानो भूले दिन-मान,
विधि का करते-से आह्वान।

मैं जो रहा देखता, तब विधि ने भी सब कुछ देखा होगा—
वह विधि, जिस के अधिकृत उन के मिलन-विरह का
लेखा होगा—
किन्तु रहे वे फिर भी सटे हुए, संलग्न—
आत्मता में ही तन्मय, तन्मयता में सतत निमग्न !
और—बीत चुका जब मेरे जाने समय युगों का—
आया एक हवा का झोंका—
काँपे तार—झरा दो कण नीहार—
उस समय भी तो उन के उर के भीतर
कोई खलिश नहीं थी—कोई रिक्त नहीं था—
नहीं वेदना की टीसों को स्थान कहीं था !
तब भी तो वे सहज परस्पर
पंख से पंख मिलाये
वाताहत तम की झकझोर में भी अपने चारों ओर
एक प्रणय का निश्चल वातावरण जमाये
उड़े जा रहे थे, अतिशय निर्द्वन्द्व—
और विधि देख रही—निःस्पन्द !

लौट चला आया हूँ फिर भी प्राण पूछते जाते हैं
क्या वह सच था ? और नहीं उत्तर पाते हैं—
और कहे ही जाते हैं
कि आज मैं
अचरज एक देख आया।

उषःकाल की भव्य शान्ति

निविडाऽन्धकार
को मूर्त्त रूप दे देनेवाली
एक अकिंचन, निष्प्रभ, अनाहूत,
अज्ञात द्युति किरण :

आसन्न-पतन, बिन-जमी ओस की अन्तिम
ईषत्करुण, स्निग्ध, कातर शीतलता
अस्पृष्ट किन्तु अनुभूत :

दूर किसी मीनार-क्रोड से मुल्ला का
एक-रूप पर अनेक भावोद्दीपक
गम्भीऽर आऽह्वाऽन—
'अस्सला तु खैरुम्मिनिन्नाऽ' :

निकट गली में
किसी निष्करुण जन से बिन-कारण पदाक्रान्त
पिल्ले की करुण रिरियाहट :

पार गली के छप्पर-तल में
शिशु का तुनक-तुनक कर रोना, मातृवक्ष को आतुर।

ऊपर
व्याप्त ओर-छोर-मुक्त नीलाकाश :
दो अनथक, अपलक-द्युति ग्रह
रात-रात में नभ का आधा व्यास पार कर
फिर भी नियति-बद्ध, अग्रसर।

उषःकाल :
अनायास उठ गया चेतना से निद्रा का आँचल—
मिला न पर पार्थक्य, पड़ा मैं स्तब्ध, अचचल,
मैं ही हूँ वह पदाक्रान्त रिरियाता कुत्ता—
मैं ही वह मीनार-शिखर का प्रार्थी मुल्ला—
मैं वह छप्पर-तल का अहंलीन शिशु-भिक्षुक—
और, हाँ, निश्चय,
मैं वह तारक-युग्म,
अपलक-द्युति, अनथक-गति, बद्ध-नियति
जो पार किये जा रहा नील-मरु-प्रांगण नभ का।
मैं हूँ ये सब, ये सब मुझ में जीवित—
मेरे कारण अवगत—मेरे चेतन में अस्तित्व-प्राप्त !

उषःकाल :
उषःकाल की रहस्यमय
भव्य शान्ति !

शिशिर की राका-निशा

वंचना है चाँदनी सित,
झूठ वह आकाश का निरवधि, गहन विस्तार—
शिशिर की राका-निशा की शान्ति है निस्सार !

दूर वह सब शान्ति, वह सित भव्यता, वह शून्य
के अवलेप का प्रस्तार—
इधर—केवल झलमलाते
चेतहर, दुर्धर कुहासे की हलाहल-स्निग्ध मुट्ठी में
सिहरते-से, पंगु, टुंडे
नग्न, बुच्चे, दईमारे पेड़ !

पास फिर, दो भग्न गुम्बद,
निविड़ता को भेदती चीत्कार-सी मीनार,
बाँस की टूटी हुई टट्टी, लटकती
एक खम्भे से फटी-सी ओढ़नी की चिन्दियाँ दो चार !

निकटकर—धँसती हुई छत, आड़ में निर्वेद
मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वृत्त में

तीन टाँगों पर खड़ा, नतग्रीव,
धैर्य-धन गदहा।
निकटतम
रीढ़ बंकिम किये, निश्चल किन्तु लोलुप
खड़ा वन्य बिलार—
पीछे, गोयठों के गन्धमय अम्बार !

गा गया सब राजकवि, फिर राजपथ पर खो गया।
गा गया चारण, शरण फिर शूर की आ कर, निरापद सो गया।
गा गया फिर भक्त ढुलमुल चाटुता से वासना को झलमला कर,
गा गया अंतिम प्रहर में वेदना-प्रिय, अलस, तन्द्रिल, कल्पना का लाड़ला
कवि, निपट भावावेश से निर्वेद !

किन्तु अब—निस्तब्ध—संस्कृत
लोचनों का भाव-संकुल, व्यंजना का भीरु,
फटा-सा, अश्लील-सा विस्फार :

झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार—
वंचना है चाँदनी सित,
शिशिर की राका-निशा की शान्ति है निस्सार !

वर्ग-भावना—सटीक

अवतंसों का वर्ग हमारा :
खड्गधार भी, न्यायकार भी।
हमने क्षुद्र तुच्छतम जन से
अनायास ही बाँट लिया
श्रम-भार भी सुख-भार भी।
बल्कि बढ़ गये हैं आगे भी—
हम निश्चय ही हैं उदार भी !

टीका—(यद्यपि भाष्यकार है दुर्मुख) :
हम लोगों का एकमात्र श्रम है—सुरति-श्रम,
उस अन्त्यज का एकमात्र सुख है—मैथुन-सुख !

और बल्कि
देख इस निर्मम व्यापार को असंख्य
असहाय पतिंगे
तिलमिला उठे हैं, सिर पटक के
चीत्कार कर उठे हैं कि
निरदई हंडे ने उन्हीं का अन्तिम
आसरा भी लूट लिया !

रात होते—प्रात होते

प्रात होते
सबल पंखों की अकेली एक मीठी चोट से
अनुगता मुझ को बना कर बावली को—
जान कर मैं अनुगता हूँ—
उस बिदा के विरह के विच्छेद के तीखे निमिष में भी
युता हूँ—

उड़ गया वह बावला
पंछी सुनहला
कर प्रहर्षित देह की रोमावली को।
प्रात होते

वही जो
थके पंखों को समेटे—
आसरे की माँग पर विश्वास की चादर लपेटे—
चंचु की उन्मुख विकलता के सहारे
नम रही ग्रीवा उठाये—
सिहरता-सा, काँपता-सा,
नीड़ की—नीड़स्थ सब कुछ की प्रतीक्षा भाँपता-सा,

निकट अपनों के—निकटतर भवितव्य की अपनी
प्रतिज्ञा के—
निकटतम इस वि-बुध सपनों की सखी के
आ गया था—
आ गया था
रात होते!

जैसे तुझे स्वीकार हो

जैसे तुझे स्वीकार हो।

डोलती डाली, प्रकम्पित पात, पाटल-स्तम्भ विलुलित,
खिल गया है सुमन मृदु-दल, बिखरते किंजल्क प्रमुदित,
स्नात मधु से अंग, रंजित-राग केशर-अंजली में
स्तब्ध-सौरभ है निवेदित।
मलय-मारुत; और अब जैसे तुझे स्वीकार हो।

पंख कम्पन-शिथिल, ग्रीवा उठी, डगमग पैर,
तन्मय दीठ अपलक,
कौन ऋतु है, राशि क्या, है कौन-सा नक्षत्र, गत-शंका, द्विधा-हृत,
बिन्दु अथवा वज्र हो—
चंचु खोले, आत्म-विस्मृत हो गया है यती चातक:
स्वाति, नीरद, नील-द्युति, जैसे तुझे स्वीकार हो।

अभ्र लख भ्रू-चाप-सा, नीचे प्रतीक्षा में स्तिमित निःशब्द
धरा पाँवर-सी बिछी है, वक्ष उद्वेलित हुआ है स्तब्ध,
चरण की हो चाँप किंवा छाप तेरे तरल चुम्बन की:

महाबल, हे इन्द्र, अब जैसे तुझे स्वीकार हो।
मैं खड़ा खोले हृदय के सभी ममता द्वार,
नमित मेरा भाल; आत्मा नमित-तर, है नमित-तम मम
भावना-संसार,
फूट निकला है न-जाने कौन हृत्तल वेधता-सा
निवेदन का अतुल पारावार,
अभय-वर हो, वरद-कर हो; तिरस्कारी वर्जना, हो प्यार :
तुझे प्राणाधार, जैसे हो तुझे स्वीकार—
सखे, चिन्मय देवता, जैसे तुझे स्वीकार हो!

चार का गजर

चार का गजर कहीं खड़का—
रात में उचट गयी नींद मेरी सहसा :
छोटे-छोटे, बिखरे-से, शुभ्र अभ्र-खण्डों बीच द्रुत-पद
भागा जा रहा है चाँद ;
जगा हूँ मैं एक स्वप्न देखता :

जाने कौन स्थान है, मैं खड़ा एक मंच पर
एक हाथ ऊँचा किये। भाषण के बीच में
रुक कर नीचे देखता हूँ, जुटी भीड़ को
और फिर निज उठे कर को
जिस में मैं एक चित्र थामे हूँ ;
और फिर मुग्ध-नेत्र चित्र को ही देखता—
निर्निमेष लोचन-युगल जिस में कि युवा कवि के
देखे जा रहे हैं, एक छायामय
किन्तु दीप्तिमान नारी-मुख को :
आकृति नहीं है स्पष्ट, किन्तु मानो फलक को भेदती-सी
दृष्टि उन अप्सरा की आँखों की
पैठी जा रही है कवि-युवक के उर में।

मेरी भाव-धारा फिर वेष्टित हो शब्द से
बह चलती है जन-संकुल की ओर (मानो निम्नगा
होके नभगंगा बनी धौत-पाप भागीरथ-तारिणी)
कहता हूँ, "देखो यहाँ चित्रण किया है चित्रकार ने
एक-निष्ठ, ध्येय-रत, तप-शील साधना का :
दुर्निवार चला जा रहा है कवि-युवा निज पथ पर
उर धारे पुंजीकृत कल्पना की स्वप्न-मूर्त्त प्रतिमा।
एक सीमा होती है, उलाँघ कर जिस को,
बनता विसर्जन है बिम्ब उपलब्धि का :
देखो, कैसे तन्मय हुआ है वह, आत्मसात्!"

नीचे कहीं, संकुल के बीच से
आया एक स्वर, तीखा, व्यंग्य-युक्त, मुझे ललकारता :
"तेरे पास भी तो प्रति-कृति है,
छाया-रूप तेरे निज मोह की यवनिका!"

मानो मेरा रोम-रोम पुलका प्रहर्ष से,
मैंने एकाएक चीन्ह लिया उस फलक को बेधती-सी
छायाकृति-बीच जड़ी अपलक आँखों को—
तेरी थीं वे आँखें, आर्द्र, दीप्ति-युक्त,
मानो किसी दूरतम
तारे की चमक हो!

और फिर गूंज गया मेरे प्राण-गह्वर के सूने में
वह प्रश्न—'तेरे पास भी तो बस चित्र है—
प्रतिकृति, छायामय—'

खुल गया चेतना का द्वार तभी,

उठ गयी मेरे मोह-स्वप्न की यवनिका;
भिंची मेरी मुट्ठियाँ थीं,
उन की पकड़ किन्तु बाँधे एक शून्यता के
श्वास को—

छोटे-छोटे, बिखरे से, शुभ्र बादलों को पार करता—
मानो कोई तप-क्षीण कापालिक
साध्य-साधना की बल बुझी, झरी,
बची-खुची राख पर धीमे पैर रखता—
नीरव, चपल-तर गति से
चाँद भागा जा रहा है
द्रुतपद—

जागा हूँ मैं स्वप्न से कि
चार का गजर कहीं खड़का!

भादों की उमस

सहम कर थम-से गये हैं बोल बुलबुल के,
मुग्ध, अनभिप रह गये हैं नेत्र पाटल के,
उमस में बेकल, अचल हैं पात चलदल के,
नियति मानो बँध गयी है व्यास में पल के।

लास्य कर कौंधी तड़ित् उर पार बादल के,
वेदना के दो उपेक्षित वीर-कण ढलके
प्रश्न जागा निम्नतर स्तर बेध हृत्तल के—
छा गये कैसे अजाने, सहपथिक कल के ?

बदली की साँझ

धुँधली है साँझ, किन्तु अतिशय मोहमयी,
बदली है छायी, कहीं तारा नहीं दीखता।
खिन्न हूँ कि मेरी नैन-सरसी से झाँकता-सा
प्रतिबिम्ब, प्रेयस ! तुम्हारा नहीं दीखता।

माँगने को भूल कर बोध ही में डूब जाना
भिक्षुक स्वभाव क्यों हमारा नहीं सीखता ?

चेहरा उदास

रात के रहस्यमय, स्पन्दित तिमिर को,
भेदती कटार-सी,
कौंध गयी बौखलाये मोर की पुकार—
वायु को कंपाती हुई,
छोटे-छोटे बिन-जमे ओस-बिन्दुओं को झकझोरती,
दुस्सह व्यथा-सी
नभ पार !

मेरे स्मृति-गगन में सहसा
अन्धकार चीर कर आया एक चेहरा उदास।
आँखों की पुतलियों में सोयी थीं बिजुलियाँ—
किन्तु वेदना का आर्द्र घन छाया आस-पास !

•

एक क्षण। केकी की पुकार से फटा हुआ
रात का रहस्यगर्भ स्पन्दित तिमिर फिर
व्रण निज ढँक कर फैल कर मिल गया—
जैसे कोई निराकार चेतना
जीवन की अल्पतम

अनुभव-लहर की चोट सोख लेती है
और मानो चोट खाये स्थल को
देने को विशेष कोई स्निग्ध-स्पर्श सान्त्वना—
रात के कुहासे में से एक छोटा तारा फूट निकला।

किन्तु मेरी स्मृति के
ओर-छोर-मुक्त, गतियुक्त-से गगन में
थम गया, जम गया, वह स्थिर-नेत्र-युक्त चेहरा उदास :
आँखों में सुलाये हुए तड़पती बिजुली—
और आर्द्र वेदना के घन छाये आस-पास !

मेरी चेतना उसी के चिन्तन से प्लावित है युग-युग—
चोट नहीं, वही मेरी जीवनानुभूति है।
खुला ही रहे यह मेरा वातायन वेदना का,
देखता रहूँ मैं सदा अपलक
वह छवि, दीप्तियुक्त—छायामय—
मिटो मत मेरे स्मृति-पटल के तल से,
हटो मत मेरी प्यासी दृष्टि के क्षितिज से,
मेरे एकमात्र संगी चेहरे उदास :
मुझे चाह नहीं अन्य स्निग्ध-स्पर्श सान्त्वना का
तुम्हीं मेरा जीवन-कुहासा भेद उगा हुआ तारा हो !

चरण पर धर चरण

चरण पर धर
सिहरते-से चरण,
आज भी मैं इस सुनहले मार्ग पर—
पकड़ लेने को पदों से
मृदुल तेरे पद-युगल के अरुण-तल की
छाप वह मृदुतर
जिसे क्षण-भर पूर्व ही निज
लोचनों की उछटती-सी बेकली से
मैं चुका हूँ चूम बारम्बार—
कर रहा हूँ, प्रिये, तेरा मैं अनुकरण
मुग्ध, तन्मय—
चरण पर धर
सिहरते-से चरण।

पार्श्व मेरा—
किन्तु इस से क्या कि मेरे साथ चलता कौन है,
जब कि वह है साथ मेरी यन्त्र-चालित देह के,
और मैं—मेरा परम-तप तत्त्व—वलयित

साथ तेरे प्राण के ;
जब कि आत्मा यह अनाहत और अक्षत
चरण-तल की छाप के उस कनक-शतदल
कमल से बिछुड़ी अकेली दोल पँखुड़ी में चमकती
लोल जल की बूँद-सा पर-ज्योति-गुम्फित,
तद्गत और अतिशः मौन है !

आशीः

[वसन्त के एक दिन]

फूल कांचनार के,
प्रतीक मेरे प्यार के !
प्रार्थना-सी अर्धस्फुट काँपती रहे कली
पत्तियों का सम्पुट, निवेदिता ज्यों अंजली ।
आये फिर दिन मनुहार के, दुलार के
—फूल कांचनार के !

सुमनवृन्त बावले बबूल के !
झोंके ऋतुराज के वसन्ती दुकूल के,
बूर बिखराता जा पराग अंगराग का
दे जा स्पर्श ममता की सिहरती आग का ।
आवे मत्त गन्ध वह ढीठ हूल-हूल के
—सुमनवृन्त बावले बबूल के !

कली री पलास की !
टिमटिमाती ज्योति मेरी आस की
या कि शिखा ऊर्ध्व-मुखी मेरी दीप्त प्यास की ।

वासना-सी मुखरा, वेदना-सी प्रखरा
दिगन्त में
प्रान्तर् में प्रान्त में
खिल उठ, भूल जा, मस्त हो,
फैल जा वनान्त में—
मार्ग मेरे प्रणय का प्रशस्त हो!

वीर-बहू

एक दिन देवदारु-वन बीच छनी हुई
किरणों के जाल में से साथ तेरे घूमा था,
फेनिल प्रपात पर छाये इन्द्र-धनु की
फुहार तले मोर-सा प्रमत्त-मन झूमा था :

बालुका में अँकी-सी रहस्यमयी वीर-बहू
पूछती है रव-हीन मखमली स्वर से :
याद है क्या, ओट में बुरूस की प्रथम बार
धन मेरे, मैंने जब ओठ तेरा चूमा था ?

आज मैं पहचानता हूँ—

आज मैं पहचानता हूँ राशियाँ, नक्षत्र,
ग्रहों की गति, कुग्रहों के कुछ उपद्रव भी,
मेखला आकाश की ;
जानता हूँ मापना दिन-मान ;
समझता हूँ अयन-विषुवत्,
सूर्य के धब्बे, कलाएँ चन्द्रमा की
गति अखिल इस सौर-मंडल के विवर्त्तन की—
और इन सब से परे, मैं सोचता हूँ,
ज़रा कुछ-कुछ भाँपने-सा भी लगा हूँ
इस गहन ब्रह्मांड के अन्तःस्थ विधि का अर्थ—
अर्थ !—रे कितनी निरर्थक वंचना की मोह-स्वर्णिम
यह यवनिका—

यह चटक, तारों-सजा फूहड़ निलज आकाश—
अर्थ कितना उभर आता था अचानक
अल्पतम भी तारिका की चमक को जब
देखते ही मैं तुरत, निःशब्द तुलना में तुम्हारे
कुछ उनींदे लोचनों की युगल जोड़ी कर लिया
करता कभी था याद !

मुक्त है आकाश

निमिष-भर को सो गया था प्यार का प्रहरी—
उस निमिष में कट गयी है कठिन तप की शिंजिनी दुहरी :
सत्य का वह सनसनाता तीर जा पहुँचा हृदय के पार—
खोल दो सब वंचना के दुर्ग के ये रुद्ध सिंहद्वार !

एक अन्तिम निमिष-भर के ही लिए कट जाय मायापाश—
एक क्षण-भर वक्ष के सूने कुहर को झनझना कर
चला जावे झुलस कर भी तप्त अन्तिम मुक्ति का प्रश्वास—
कब तलक यह आत्म-संचय की कृपणता ! यह
घुमड़ता त्रास !
दान कर दो खुले कर से, खुले उर से होम कर दो स्वयं को
समिधा बना कर !
शून्य होगा, तिमिरमय भी, तुम यही जानो कि अनुक्षण
मुक्त है आकाश !

कृत-बोध

तीन दिन बदली के गये, ग्राज सहसा
खुल-सी गयी हैं दो पहाड़ियों की श्रेणियाँ
ग्रौर बीच के ग्रबाध ग्रन्तराल में
शुभ्र, धौत—
मानो स्फुट ग्रधरों के बीच से प्रकृति के
बिखर गया हो कल-हास्य
एक क्रीडा-लोल, ग्रमित लहर-सा—

लाँघ कर मानस का शून्य तम
निःसृत हुग्रा है द्युत
तेरे प्रति मेरे कृत-बोध का प्रकाश—
चेतना की मेखला-सी
जीवनानुभूति की पहाड़ियों के बीच मेरी
विनत कृतज्ञता
फैल गयी खुले ग्राकाश-सी।

वसन्त-गीत

मलय का झोंका बुला गया :
खेलने से स्पर्श से
वो रोम-रोम को कँपा गया—
जागो, जागो,
जागो सखि, वसन्त आ गया ! जागो !

पीपल की सूखी खाल स्निग्ध हो चली,
सिरिस ने रेशम से वेणी बाँध ली ;
नीम के भी बौर में मिठास देख
हँस उठी है कंचनार की कली !
टेसुओं की आरती सजा के
बन गयी वधू वनस्थली !
स्नेह-भरे बादलों से
व्योम छा गया—
जागो, जागो,
जागो, सखि, वसन्त आ गया ! जागो !

चेत उठी ढीली देह में लहू की धार,
बेध गयी मानस को दूर की पुकार

गूंज उठा दिग्दिगन्त
चीन्ह के दुरन्त यह स्वर बार-बार :
'सुनो सखि ! सुनो बन्धु !
प्यार ही में यौवन है यौवन में प्यार !'
आज मधु-दूत निज
गीत गा गया—
जागो, जागो,
जागो सखि, वसन्त आ गया ! जागो !

मिट्टी की ईहा

सुनो, कैरा, सुनो,
क्या मेरा स्वर तुम तक पहुँचता है ?

मिट्टी ही ईहा है !

मैंने सुना :
ग्रौर मैंने बार-बार स्वीकृति से
ग्रनुमोदन से
ग्रौर गहरे ग्राग्रह से ग्रावृत्ति की :
'मिट्टी-से निरीह'—
ग्रौर फिर ग्रवज्ञा से उन्हें रौंदता चला—
जिन्हें कि मैं मिट्टी-सा निरीह मानता था।

किन्तु
वसन्त के उस ग्रल्हड़ दिन में
एक भिदे हुए, फटे हुए लोंदे के बीच से बढ़ कर
ग्रंकुर ने
तुनुक कर कहा—
'मिट्टी ही ईहा है !

कितना तुच्छ है तुम्हारा ग्रभिमान
जोकि मिट्टी नहीं हो—
जोकि मिट्टी को रौंदते हो,
जोकि ईहा को रौंदते हो—
क्योंकि मिट्टी ही ईहा है !'

किसने देखा चाँद–१

किसने देखा चाँद—
किसने, जिसे न दीखा उस में क्रमशः विकसित
एकमात्र वह स्मित-मुख जो है
अलग-अलग प्रत्येक के लिए
किन्तु अन्ततः है अभिन्न :

है अभिन्न, निष्कम्प, अनिर्वच, अनभिवद्य ;
है युगातीत,
एकाकी—
एकमात्र ?

नन्हीं शिखा

जब
झपक जाती हैं थकी पलकें
जम्हाई-सी स्फीत लम्बी रात में,
सिमट कर भीतर कहीं पर
संचयित कितने न जाने युग-क्षणों की
राग की अनुभूतियों के सार को आकार दे कर,
मुग्ध मेरी चेतना के द्वार से तब
निःसृत होती है अयानी
एक नन्हीं-सी शिखा।

काँपती भी नहीं निद्रा
किन्तु मानों चेतनाऽपर किसी संज्ञा का
अनवरत सूक्ष्मतम स्पन्दन
जता देता है मुझे,
नर्तिता अपवर्ग की अप्सरा-सी वह
शिखा मेरा भाल छूती है,
नेत्र छूती है,
वक्त्र छूती है,
गात्र को परिक्रान्त कर के
ठिठक छिन-भर

उमग कौतुक से
बोध को ही आँज जाती है किसी
एकान्त अपने
दीप्त रस से।

और तब संकल्प मेरा
द्रवित, आहुत,
स्नेह-सा उत्सृष्ट होता है
शिखा के प्रति
धीर, संशय-हीन, चिन्तातीत !

वह चाहे जला डाले।

[यदपि वह तो वासना का धर्म है—
और यह नन्हीं शिखा तो
अनकहा मेरे हृदय का प्यार है !]

ऋतुराज

शिशिर ने पहन लिया वसन्त का दुकूल,
गन्धवह उड़ रहा पराग-धूल झूल,
काँटों का किरीट धारे बने देवदूत
पीत-वसन दमक उठे तिरस्कृत बबूल।
अरे, ऋतुराज आ गया।

पूछते हैं मेघ, 'क्या वसन्त आ गया?'
हँस रहा समीर, 'वह छली भुला गया।'
किन्तु मस्त कोंपलें सलज्ज सोचतीं—
'हमें कौन स्नेह-स्पर्श कर जगा गया?
वही ऋतुराज आ गया।

प्रस्फुटन अभी नहीं लगी हुई है आस—
मुक्त हो चले अशक्त शीत-बद्ध दास।
मुक्त-प्राण, सर्वत्राण चैत्र आ रहा—
अंक भेंटने को तिलमिला उठे पलास।
क्योंकि ऋतुराज आ गया।

सिद्धि नहीं, दौड़ते हैं किन्तु सिद्धिदूत—
वायु चल रही है आज स्निग्ध मन्त्रपूत।

स्तब्ध हैं प्रतीक्षमान दिग्वधूटियाँ—
जीवन-प्रवाह बह रहा है अनाहूत।
क्योंकि ऋतुराज आ गया।

अभी सुन पड़ी नहीं परभृता की कूक,
अभी कहीं कँपी नहीं है चातकी की हूक,
किन्तु क्यों सिहर उठी है रोम-रोम में—
प्यार की, अथक नये दुलार की भी भूख ?
क्योंकि ऋतुराज आ गया।

आज ऋतुराज आ गया—
अरे ऋतुराज आ गया।

शाली

नभ में सन्ध्या की अरुणाली,
भू पर लहराती हरियाली,
है अलस पवन से खेल रही--
भादों की मान-भरी शाली :

री किस उछाह से झूम उठी
तेरी लोलक-लट घुँघराली ?

झुक कर नरसल ने सरसी में
अपनी लघु वंशी धो ली,
झिल्ली के प्लुत एकस्वर में
संसृति की साँय-साँय बोली--

किस दूरी से आहूत, अवश,
उड़ चली विहंगों की टोली ?

किस तरल धूम से भर आयीं
तेरी आँखें काली-काली ?

पानी बरसा !

ओ पिया, पानी बरसा !

घास हरी हुलसानी
मानिक के झूमर-सी झूमी मधु-मालती
झर पड़े जीते पीत अमलतास
चातकी की वेदना बिरानी।
बादलों का हाशिया है आसपास—
बीच लिखी पाँत काली बिजली की
कूँजों की डार, कि असाढ़ की निशानी !
ओ पिया, पानी !
मेरा जिया हरसा।

खड़खड़ कर उठे पात, फड़क उठे गात।
देखने को आँखें, घेरने को बाँहें।
पुरानी कहानी ?
ओठ को ओठ, वक्ष को वक्ष—
ओ पिया, पानी !
मेरा हिया तरसा।
ओ पिया, पानी बरसा !

हिमन्ती बयार

१

हवा हिमन्ती सन्नाती है चीड़ में,
सहमे पंछी चिहुँक उठे हैं नीड़ में;
दर्द गीत में रुँधा रहा—बह निकला गलकर मींड़ में
तुम हो मेरे अन्तर् में पर मैं खोया हूँ भीड़ में!

२

सिहर-सिहर झरते पत्ते पतझार के
तिर चले कहाँ पंखों पर चढ़े बयार के
—ले अन्ध-वेग नौका ज्यों बिन पतवार के!
जीवन है कच्चा सूत—रहूँ मैं ऊब-डूब सागर में तेरे प्यार में!

प्रिया के हित गीत

दृश्य लख कर प्राण बोले :
'गीत लिख दे प्रिया के हित !'
समर्थन में पुलक बोली :
'प्रिया तो सम - भागिनी है
साथ तेरे दुखित - नन्दित !'

लगा गढ़ने शब्द।
सहसा वायु का झोंका
तुनक कर बोला, 'प्रिया मुझमें नहीं है ?'
नदी की द्रुत लहर ने टोका—
'किरण-द्रव मेरे हृदय में स्मित उसी की बस रही है !'
शरद की बदली इकहरी, शिथिल अँगराई
भर, तनिक-सी ओर झुक आयी :
'नहीं क्या उस की लुनाई
इस लचीली मसृण-मृदु आकार रेखा में बही है ?'

•

सिहर कर तरु-पात भी बोले वनाली के,
आक्षितिज उन्मुक्त लहरे खेत शाली के—
'आत्म-लय के, बोध के, इस परम-रस से पार
ग्रन्थि मानो रूप की, स्वालम्ब, बिन आधार,

अलग प्रिय, एकान्त कुछ, कोई कहीं है?
प्रिया तो है भावना, वह है यहीं है, रे, यहीं है!'

रह गया मैं मौन, अवनत-माथ
एक-लय उन सबों से, उस दृश्य से अभिभूत,
प्रिये, तुझ को भूल कर एकान्त, अन्तःपूत,
क्योंकि एकप्राण तेरे साथ!

माघ-फागुन-चैत

अभी माघ भी चुका नहीं
पर मधु का गरवीला अगवैया
कर उन्नत शिर
अँगराई ले कर उठा जाग
भर कर उर में ललकार—
भाल पर धरे फाग की लाल आग।
धूल बन गयी नदी कनक की—
लोट-पोट न्हाती गौरैया
फूल फूल कर साथ-साथ जुर
ढीठ हो गये चिरी-चिरैया।

आया हचकोला फाग का :
खग लगे परखने नये-नये सुर
अपने-अपने राग का
(बिसरा कर सुध, कल बन जायेगा
यही बगूला आग का !)
'बिगड़ी बयार को ले जाने दो
सूखे पीले पात पुरानी चैत के !
इठलाती आयी फुनगी,
पावस में डोल उठी हरखायी नैया—

दिन बदला उन का, अब है काल खेवैया !'

सहसा झरा फूल सेमर का
गरिमा-गरिम, अकेला, पहला,
क्या टूट चला सपना वसन्त का
चौबारा, चौमहला
लाल-रुपहला ?
झर-झर-झर लग गयी झड़ी-सी
टहनी पर बस टँगी रह गयी अर्थहीन उखड़ी-सी
टुच्ची-बुच्ची ढोंड़ियाँ लँढूरी
पर-खोंसे झुलसे पाखी-सी
खिसियाये मुँह बाये !
पहले ही सकुची-सिमटी
दब गयी पराजय के बोझे से लद
किसान की झुकी मचैया !

क्रमशः आये
दिन चैती : सौगात नयी क्या लाये ?
—बाल बिखेरे, अपना रूखा सिर धुनती
(नाचे ता-थैया !)
बेचारी हर-झोंके-मारी, विरस अकिंचन
सेमर की बुढ़िया मैया !

'आषाढस्य प्रथमदिवसे—'

घन अकास में दीखा।

चार दिनों के बाद
वह आयेगी
मुझ पर छा जायेगी
सूखी रेतीली धमनी में
फिर रस-धारा लहरायेगी
वह आयेगी—
मैं सूखा फैलाव रेत का
(वह आयेगी—)
मेरी कनी-कनी सिंच जायेगी
वह आयेगी—
ठंढ पड़ेगी जी को
आसरा मिलेगा ही को
नये अयाने बादल में मैं इक-टक देख रहा हूँ पी को—
वह आयेगी !

वह आयेगी—
पहले बारे बादल-सी छरहरी, अयानी,
लाज-लजी, अनजानी,
फिर मानो पहचान, जान यह सब कुछ उस का ही है
घहराते उद्दाम हठीले यौवन से इठलाती
खुले बन्द, खिले अंग,
बेकल, सब-बोरन, मदमाती

वह आयेगी—
लालसा का लाल, जय का लिये उजला रंग।

वह आयेगी—
मेरा ढाँप लेगी नंग
अपनी देह से
बहते स्नेह से :
अभी सूखी रेत हूँ पर हो जाऊँगा हरा,
गति-जीवित, भरा,
बालू धारा बन जायेगी—
धारा आनी-जानी है
पर मेरी तो वह नस-नस की पहचानी है—

वह आयेगी :
खिंच जायेगी
हिमगिरि से आसमुद्र
बाँकी किन्तु अचूक एक जीवन की रेखा—
जीवन बहता पानी है—
इन टूटे हुए कगारों में
फिर जीती इन धारों की लम्बी, बे-अन्त कहानी है!

मैंने घन अकास में देखा
परिचय का पहला निशान :
चेता, हरा हो गया सूखा
ज्ञान!
मैंने लिया पहचान
वह आयेगी!

घन अकास में दीखा :
वह आयेगी!

किसने देखा चाँद–२

किसने देखा चाँद
जिसने
उसे न चीन्हा एक अकेली आँख,
अकेला एक अनभरा आँसू
जीवन के इकलौते अपने दुःख का ;
बँधी चिरन्तन आयासों से,
खुली अजाने अनायास
सीपी के भीतर का अनगढ़ मोती ?

सीपी-वासी जीव, न जाने जीवित है या
स्वयं जीव की सूनी सीपी !
किन्तु नहीं सन्देह कि मोती उस की मर्म-व्यथा
का फल है—
उजली सूनी सीपी
चाँद न जिसने चीन्हा
—किसने देखा चाँद !

ये मेघ साहसिक सैलानी

ये मेघ साहसिक सैलानी !

ये तरल बाष्प से लदे हुए,
द्रुत साँसों-से लालसा-भरे;
ये ढीठ समीरण के झोंके;
कंटकित हुए रोएँ तन के—
किन अदृश करों से आलोडित
स्मृति-शेफाली के फूल झरे !

झर-झर झर-झर
अप्रतिहत स्वर
जीवन की गति आनी-जानी।
ये मेघ साहसिक सैलानी !

झर—
नदी कूल के चल नरसल,
झर—उमड़ा हुआ नदी का जल,
ज्यों क्वाँरपने की केंचुल में
यौवन की गति उद्दाम प्रबल !

झर—
दूर आड़ में झुरमुट की
चातक की करुण-कथा बिखरी,
चमकी टटीहरी की गुहार
झाऊ की साँसों में सिहरी,
मिल कर सहसा सहमी ठिठकीं
वे चकित मृगी की आँखड़ियाँ—
झर! सहसा दर्शन से झंकृत
इस अल्हड़ मानस की कड़ियाँ!

झर—
अन्तरिक्ष की कौली भर
मतियाया-सा भूरा पानी,
थिगलियाँ-भरे छीजे आँचल-सी
ज्यों-त्यों बिछी धरा धानी,
हम कुंज-कुंज यमुना-तीरे
कर गूँथ-गूँथ धीरे-धीरे
बढ़ चले अटपटे पैरों से,
छिन लता-गुल्म, छिन वा नीरे!

झर-झर झर-झर
द्रुत मन्द्र-स्वर
आये दल-बल ले अभिमानी!
ये मेघ साहसिक सैलानी!

कम्पित फरास की ध्वनि सर-सर
कहती थी कौतुक से भर कर:

'पुरवा-पछवा हरकारों से
कह देगा सब निर्मम हो कर
दो प्राणों का सलज्ज मर्मर—
औत्सुक्य-सजग, पर शील-नम्र
इन नभ के प्रहरी तारों से।'

ओ कह देते तो कह देते
पुलिनों के ओ नटखट फरास !
ओ कह देते तो कह देते
पुरवा-पछवा के हरकारो,
नभ के कौतुक-कम्पित तारो !
हाँ, कह देते तो कह देते
लहरों के ओ उछ्वसित हास !

पर अब—झर-झर
स्मृति शेफाली
यह युग-सरिका अप्रतिहत स्वर
झर-झर—स्मृति के पत्ते सूखे
जीवन के अन्धड़ में पिटने
मरुथल के रेणुक-कण रूखे !

झर—जीवन-गति आनी-जानी
उठतीं-गिरतीं सूनी साँसें
लोचन-अन्तस् प्यासे-भूखे
अलमस्त चल दिये छलिया-से
ये मेघ साहसिक सैलानी !

जागर

पूर्णिमा की चाँदनी
सोने नहीं देती ।

चेतना अन्तर्मुखी स्मृति-लीन होती है ;
देह भी पर सजग है—
खोने नहीं देती ।

निशा के उर में बसे आलोक-सी है व्यथा व्यापी—
प्यार में अभिमान की पर कसक ही
रोने नहीं देती ।

पूर्णिमा की चाँदनी
सोने नहीं देती ।

कल की निशि

मिथ, कल मिथ्या :
कल की निशि घनसार तमिस्रा
और अकेली होगी—
स्मृति की सूखी स्रजा रुआँसी
एक सहेली होगी।

चरम द्वन्द्व—आत्मा निःसम्बल,
अरि गोपित, मायावी—
प्यार ? प्यार ! अस्तित्व-मात्र
अनबूझ पहेली होगी !

एक दर्शन

माँगा नहीं यदपि पहचाना,
पाया कभी न, केवल जाना,
परिचित को अपनाया माना।

दीवाना ही सही, कठिन है अपना तर्क तुम्हें समझाना—
इह मेरा है पूर्ण, तदुत्तर परलोकों का कौन ठिकाना!

प्रतीक्षा

नया ऊगा चाँद बारस का,
लजीली चाँदनी लम्बी,
थकी सँकरी सूखती दीर्घा :

चाँदनी में धूल-धवला बिछी लम्बी राह।
तीन लम्बे ताल, जिन के पार के लम्बे कुहासे को
चीरती, ज्यों वेदना का तीर; लम्बी टटीरी की ग्राह।

उमड़ती लम्बी शिखा-सी, यती-सी धूनी रमाये
जागती है युगावधि से सँची लम्बी चाह—
ग्रौर जाने कौन-सी निर्व्यास दूरी लीलने दौड़ी
स्वयं मेरी निलज लम्बी छाँह !

देख क्षितिज पर भरा चाँद

देख क्षितिज पर भरा चाँद
मन उमगा, मैंने भुजा बढ़ायी।

हम दोनों के अन्तराल में
कमी नहीं कुछ दी दिखलाई;

किन्तु उधर, प्रतिकूल दिशा में
उसी भुजा की आलम्बित परछाई
अनायास बढ़, लील धरा को,
क्षिति की सीमा तक जा छायी!

जन्म-दिवस

मैं मरूँगा सुखी
क्योंकि तुमने जो जीवन दिया था—
[पिता कहलाते हो तो
जीवन के तत्त्व पाँच
चाहे जैसे पुंज-बद्ध हुए हों,
श्रेय तो तुम्हीं को होगा—]
उस से मैं निर्विकल्प खेला हूँ—
खुले हाथों उसे मैंने वारा है-
धज्जियाँ उड़ायी हैं।

तुम बड़े दाता हो :
तुम्हारी देन
मैंने नहीं सूम-सी सँजोयी ;
मैंने नहीं जोड़ा कुछ
थोड़ा भी।
पाँच ही थे तत्त्व मेरी गूदड़ी में—
मैंने नहीं माना उन्हें लाल,

चाहे यह जीवन का वरदान
तुम नहीं देते बार-बार—
[अरे
मानव की योनि ! परम संजोग है !]
किन्तु जब आये काल
लोलुप विवर-सा प्रलम्ब-कर,
खुली पाये प्राणों की मजूषा—
जावें
पाँचों प्राण शून्य में बिखर :
मैं भी दाता हूँ—
विसर्ग महाप्राण है।
मैं मरूँगा सुखी।

किन्तु नहीं धो रहा मैं पाटियाँ आभार की।

उनके समक्ष
दिया जिन्होंने बहुत कुछ, किन्तु जो
अपने को दाता नहीं मानते—
नहीं जानते :
अमुखर नारियाँ,
धूल-भरे शिशु,
खग,
ओस-नमे फूल,
गन्ध
मिट्टी पर पहले असाढ़ के अयाने वारि-बिन्दु की,
कोटरों से झाँकती गिलहरी,
स्तब्ध, लय-बद्ध भौंरा
टँका-सा अधर में,

चाँदनी से बसा हुआ कुहरा,
पीली धूप शारदीय प्रात की,
बाजरे के खेतों को फलाँगती
डार हिरनों की बरसात में—
नत हूँ मैं
सब के समक्ष बार-बार मैं विनीत-स्वर
ऋण-स्वीकारी हूँ—
विनत हूँ।

मैं मरूँगा सुखी
मैंने जीवन की धज्जियाँ उड़ायी हैं!

समाधि-लेख

१

रहा अज्ञ, निज को कहा अज्ञेय,
हुआ विज्ञ, सो यह रहा अज्ञेय !

२

आँखों में—चिर प्रेय
हाथों को—जो श्रेय
आत्मा में—कुछ गेय
मिट्टी को—अज्ञेय !

३

आजीवन चलता रहा प्रेय के साथ-साथ,
निष्ठा-पूर्वक लग रहा ध्येय के पीछे।
था श्रेय-भावना से ऊपर रहने का इच्छुक;
ज्ञापित हो, है अज्ञेय धरा के नीचे।

४

इतना और मुझे कहना है—
अब मुझको चुप ही रहना है।

५

पाँच हैं तत्व
पाँच हैं प्राण
अगिन रज-कण अज्ञेय
एक है ज्ञान !

हरी घास पर क्षण-भर

तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः
अथर्व० १०।८।३१

कितनी शान्ति ! कितनी शान्ति !

कितनी शान्ति ! कितनी शान्ति !
समाहित क्यों नहीं होती यहाँ भी मेरे हृदय की क्रान्ति ?
क्यों नहीं अन्तर-गुहा का अशृंखल दुर्बाध्य वासी,
अथिर यायावर, अचिर में चिर-प्रवासी
नहीं रुकना, चाह कर—स्वीकार कर—विश्रान्ति ?
(मान कर भी, सभी ईप्सा, सभी कांक्षा, जगत् की उपलब्धियाँ
सब हैं लुभानी भ्रान्ति !)

तुम्हें मैंने आह ! संख्यातीत रूपों में किया है याद—
सदा प्राणों में कहीं सुनता रहा हूँ तुम्हारा संवाद—
बिना पूछे, सिद्धि कब ? इस इष्ट से होगा कहाँ साक्षात् ?
कौन-सी वह प्रात, जिस में खिल उठेगी क्लिन्न, सूनी,
शिशिर-भींगी रात ?
चला हूँ मैं; मुझे सम्बल रहा केवल बोध—पग-पग आ रहा हूँ पास;
रहा आतप-सा यही बिश्वास
स्नेह के मृदु घाम से गतिमान रखता निविड मेरे साँस और उसास।
आह, संख्यातीत रूपों में तुम्हें मैंने किया है याद !

किन्तु—सहसा हरहराते ज्वार-सा बढ़ एक हाहाकार
प्राण को झकझोर कर दुर्वार,
लील लेता रहा है मेरे अकिंचन कर्म-श्रम-व्यापार !

झेल लें अनुभूति के संचित कनक का जो इकट्ठा भार—
ऐसे कहाँ हैं अस्तित्व की इस जीर्ण चादर के इकहरी बाट के ये तार!
गूँजती ही रही है दुर्दान्त एक पुकार :
कहाँ है वह लक्ष्य श्रम का—विजय जीवन की—तुम्हारा
प्रतिश्रुत वह प्यार!
हरहराते ज्वार-सा बढ़ सदा आया एक हाहाकार!

अहं! अन्तर्गुहावासी! स्व-रति! क्या मैं चीन्हता
कोई न दूजी राह?
जानता क्या नहीं, निज में बद्ध हो कर है नहीं निर्वाह?
क्षुद्र नलकी में समाता है कहीं बेथाह
मुक्त जीवन की सक्रिय अभिव्यंजना का तेज-दीप्त प्रवाह!
जानता हूँ। नहीं सकुचा हूँ कभी समवाय को देने स्वयं का दान,
विश्व-जन की अर्चना में नहीं बाधक था कभी इस व्यष्टि
का अभिमान!
कान्ति अणु की है सदा गुरु-पुंज का सम्मान।
बना हूँ कर्त्ता, इसी से कहूँ—मेरी चाह, मेरा दाह, मेरा खेद और
उछाह :
मुझ सरीखी अगिन लीकों से, मुझे यह सर्वदा है ध्यान,
नयी, पक्की, सुगम और प्रशस्त बनती है युगों की राह!

तुम! जिसे मैंने किया है याद, जिस से बँधी मेरी प्रीत—
कौन तुम? अज्ञात-वय-कुल-शील मेरे मीत!
कर्म की बाधा नहीं तुम, तुम नहीं प्रवृत्ति से उपराम—
कब तुम्हारे हित थमा संघर्ष मेरा—रुका मेरा काम?
तुम्हें धारे हृदय में, मैं खुले हाथों सदा दूँगा बाह्य का जो देय—

नहीं गिरने तक कहूँगा, 'तनिक ठहरूँ, क्योंकि मेरा चुक गया पाथेय !'
तुम ! हृदय के भेद मेरे, अन्तरंग सखा-सहेली हो,
खगों-से उड़ रहे जीवन-क्षणों के तुम पटु बहेली हो,
नियम भूतों के सनातन, स्फुरण की लीला नवेली हो,
किन्तु जो भी हो, निर्जी तुम प्रश्न मेरे, प्रेय-प्रत्यभिज्ञेय !
मेरा कर्म, मेरी दीप्ति, उद्भव-निधन, मेरी मुक्ति, तुम मेरी
पहेली हो !
तुम जिसे मैंने किया है याद, जिस से बंधी मेरी प्रीत !

लुभानी है भ्रान्ति—
कितनी शान्ति ! कितनी शान्ति !

प्रणति

शत्रु मेरी शान्ति के—
ओ बन्धु इस अस्तित्व के उल्लास के;
ऐन्द्रजालिक चेतना के—
स्तम्भ दावाँदोल दुनिया में अडिग विश्वास के;
लालसा की तप्त लालिम शिखे—
स्थिर विस्तार संयम-धवल धृति के;
द्वैत के ओ दाह—
जड़ता के जगत् में अलौकिक सन्तोष सुकृति के;
अनाचारी, सर्वद्रावी, सर्वग्रासी—
ओ नियन्ता एक अभिनव शील के,
व्रती मेरे
यती संगी
हृदय के जगते उजाले, निवेदित इह के निवासी!

प्रणति ले
ओ नियति के प्रतिरूप—
जलते तेज जीवन के;
प्रखर स्वर विद्रोह के—
प्रतिपुरुष सात्विक मुक्ति के;
मेरी प्रणति ले,
स्वयम्भू आलोक मन के!
प्रणति ले!

पराजय है याद

भोर बेला—नदी तट की घंटियों का नाद।
चोट खा कर जग उठा सोया हुआ अवसाद।

नहीं, मुझ को नहीं अपने दर्द का अभिमान—
मानता हूँ मैं पराजय है तुम्हारी याद!

देखती है दीठ

हँस रही है वधू—जीवन तृप्तिमय है।
प्रिय-वदन अनुरक्त—यह उसकी विजय है।
गेह है, गति, गीत है, लय है, प्रणय है:
सभी कुछ है।
देखती है दीठ—
लता टूटी, कुरमुराता मूल में है सूक्ष्म भय का कीट!

तुम्हीं हो क्या बन्धु वह

तुम्हीं हो क्या बन्धु वह, जो
हृदय में मेरे चिरन्तन जागता है ?

काँप क्यों सहमा गया मेरा सतत विद्रोह का स्वर—
स्तब्ध अन्तःकरण में रुक गया व्याकुल शब्द-निर्झर ?
तुम्हीं हो क्या गान, जो
अभिव्यंजना मुझ में अनुक्षण माँगता है ?
खुल गया आक्षितिज नीलाकाश मेरी चेतना का,
छा गयी सम्मोहनी-सी झिलमिलाती मुग्ध राका;
तुम्हीं हो क्या प्लवन वह
आलोक का, जो सकल सीमा लाँघता है ?

कहीं भीतर झर चले सब छद्म युग-युग की अपरिचिति के,
एक नूतन समन्वय में घुले सब आकार संसृति के;
तुम्हारा ही रूप धुँधला
क्या सदा मानस-मुकुर में भासता है ?

तुम्हीं हो क्या बन्धु वह जो
हृदय में मेरे चिरन्तन जागता है ?

दीप थे अगणित

दीप थे अगणित :
मानता था मैं कि पूरित स्नेह है।
क्योंकि अनगिन शिखाएँ थीं,
धूम था नैवेद्य-द्रव्यों से सुवासित,
और ध्वनि ? कितनी न जाने घंटियाँ
टुनटुनाती थीं, न जाने शंख कितने
घोखते थे नाम :
नाम वह, आतंक जिस का
चीरता थर्रा रहा था गन्ध-मूर्छित-से
घने वातावरण को।

उपादानों की न थी कोई कमी।

मैं रहा समझे कि मैं हूँ मुग्ध।

जाना तभी सहसा
लुब्ध हूँ केवल—
कि ले कर जिसे अपने तईं मैं हूँ धन्य—

जीवन
शून्य की है आरती !

बहा दूँ सब दीप ! बुझने दो
अगर है स्नेह कम। सारी शिखाएँ
लुटें। ग्रस ले धुआँ अपने-आप को !
मुखर झन्नाते रहें या मूक हों
सब शब्द—पोपले वाचाल ये थोथे निहोरे।

जगा हूँ मैं :
क्यों करूँ आराधना उस देवता की
जो कि मुझ को सिद्धि तो क्या दे सकेगा—
जो कि मैं ही स्वयं हूँ !

किरण मर जायगी

किरण मर जायगी !

लाल हो के झलकेगा भोर का आलोक—
उर का रहस्य ओठ सकेंगे न रोक।
प्यार की नीहार-बूंद मूक झर जायगी !
इसी बीच किरण मर जायगी !

ओप देगा व्योम श्लथ कुहासे का जाल—
कड़ी-कड़ी छिन्न होगी तारकों की माल।
मेरे माया-लोक की विभूति बिखर जायगी !
इसी बीच किरण मर जायगी !

विश्वास का वारिद

रो उठेगी जाग कर जब वेदना,
बहेंगी लूहें विरह की उन्मना,
—उमड़ क्या आया करेगा हृदय में
सर्वदा विश्वास का वारिद घना ?

राह बदलती नहीं

राह बदलती नहीं—प्यार ही सहसा मर जाता है,
संगी बुरे नहीं तुम—यदि निस्संग हमारा नाता है।
स्वयंसिद्ध है बिछी हुई यह जीवन की हरियाली—
जब तक हम मत बुझें सोच कर—'वह पड़ाव आता है!'

खुलती आँख का सपना

अरे ओ खुलती आँख के सपने !

विहग-स्वन सुन जाग देखा
उषा का आलोक छाया,
झिप गयी तब रूपकर्त्री
वासना की मधुर माया;
स्वप्न में छिन, सतत सुधि में,
सुप्त-जागृत तुम्हें पाया—
चेतना अधजगी, पलकें
लगीं तेरी याद में कँपने !
अरे ओ खुलती आँख के सपने !

मुँदा पंकज, अंक अलि को
लिये, सुध-बुध भूल सोता,
किन्तु हँसता विकसता है
प्रात में क्या कभी रोता ?
प्राप्ति का सुख प्रेय है, पर
समर्पण भी धर्म होता !
स्वस्ति ! गोपन भोर की पहली
सुनहली किरण से अपने !
अरे ओ खुलती आँख के सपने !

जब पपीहे ने पुकारा

जब पपीहे ने पुकारा
मुझे दीखा :
दो पँखुरियाँ
झरीं लाल गुलाब की, तकतीं पियासी
पिया-से ऊपर झुके उस फूल को।

ओठ ज्यों ओठों तले।

मुकुर में देखा गया हो दृश्य पानीदार आँखों के।

हँस दिया मन दर्द से—
'ओ मूढ़ ! तूने अब तलक कुछ
नहीं सीखा।'
जब पपीहे ने पुकारा
मुझे दीखा।

सागर के किनारे

तनिक ठहरूँ। चाँद उग आये,
तभी जाऊँगा वहाँ नीचे
कसमसाते रुद्ध सागर के किनारे।
चाँद उग आये।

न उस की
बुझी फीकी चाँदनी में दिखे शायद
वे दहकते लाल गुच्छ बुरूँस के जो
तुम हो।

न शायद चेत हो, मैं नहीं हूँ वह डगर
गीली दूब से मेदुर,
मोड़ पर जिस के नदी का कूल है, जल है,
मोड़ के भीतर—घिरें हों बाँह में ज्यों—
गुच्छ लाल बुरूँस के उत्फुल्ल।

न आये याद, मैं हूँ
किसी बीते साल के सीले कलेंडर की

एक बस तारीख, जो हर साल आती है।
एक बस तारीख—अंकों में लिखी ही जो न जावे
जिसे केवल चन्द्रमा का चिह्न ही बस करे सूचित—
बंक—आधा—शून्य,
उलटा बंक—काला वृत्त,
यथा पूनो—तीन-तेरस—सप्तमी,
निर्जला एकादशी—
या अमावस्या।

अंधेरे में ज्वार ललकेगा—
व्यथा जागेगी। न जाने दीख क्या जावे
जिसे आलोक फीका सोख लेता है।

तनिक ठहरूँ। कसमसाते रुद्ध सागर के किनारे
तभी जाऊँ वहाँ नीचे—
चाँद उग आये।

दूर्वाचल

पार्श्व गिरि का नम्र, चीड़ों में
डगर चढ़ती उमंगों-सी।
बिछी पैरों में नदी ज्यों दर्द की रेखा।
विहग-शिशु मौन नीड़ों में।
मैंने आँख भर देखा।
दिया मन को दिलासा—पुनः आऊँगा।
(भले ही बरस-दिन—अनगिन युगों के बाद!
क्षितिज ने पलक-सी खोली,
तमक कर दामिनी बोली—
'अरे यायावर! रहेगा याद?'

मुझे सब कुछ याद है

मुझे सब कुछ याद है। मैं उन सबों को भी
नहीं भूला। तुम्हारी देह पर जो
खेलती हैं अनमनी मेरी उँगलियाँ—और जिन का खेलना
सच है, मुझे जो भुला देता है—
सभी मेरी इन्द्रियों की चेतना उन में जगी है।

इन्द्रियाँ सब जागती हैं। और सब भूली हुई हैं खेल में
जिस में तुम्हारा मैं सखा हूँ—
मानवों की सृष्टियों के जाल से उन्मुक्त—
पगहा तोड़ भागे हुए मृग-सा—
स्वयं मानव,
चिरन्तन की सृष्टि का लघु अंग।

किन्तु सोयी इन्द्रियों को जगा कर जो
स्वयं सोता है—
वह सभी को याद करता है।

जो भुलाता है, नहीं वह भूल पाता।

जो रमाता है, स्वयं निर्लेप है वह।
वही कहता है कि वे सब प्यार भी
जी रहे हैं—
तड़पते हैं—
हैं।

वे सब हैं।
और मेरे प्यार, तुम भी हो।
चाँदनी भी है।
मधु के गन्ध बहुविध—पल्लवों के, कोरकों के—
गन्धवह में बसे, वे भी हैं।
चाँदनी भी है।
नहीं है तो मैं नहीं हूँ।

इस लिए तुम प्यार लो मेरा—कि वह तो है।
प्यार है—निधि।
नहीं है तो मैं नहीं हूँ। किन्तु जो मिट गये उनका
प्यार ही तो
प्यार है।

प्यार लो मेरा—
उसी में चाँदनी है।
उसी में तुम
उसी में बीते हुए सब प्यार भी हैं।
नहीं है तो मैं नहीं हूँ
जो कि उन सबको कभी भूला नहीं हूँ।

मुझे सब कुछ याद है।

काली तब पड़ गयी साँझ की रेख ।

साँस लम्बी स्निग्ध होती है—

मौन ही है गोद जिसमें

अनकही कुल व्यथा सोती है ।

मैं रह गया क्षितिज को अपलक देख ।

और अन्तःस्वर रहा मन में—

"क्या ज़रूरी है दिखाना तुम्हें वह जो दर्द

मेरे पास है ?"

पावस-पात, शिलङ्

भोर बेला। सिची छत से ओस की तिप्-तिप्!
पहाड़ी काक
की विजन को पकड़ती-सी क्लान्त बेसुर डाक—
'हाक्! हाक्! हाक्!'

मत सँजो यह स्निग्ध सपनों का अलस सोना—
रहेगी बस एक मुट्ठी खाक!
'थाक्! थाक्! थाक्!'

क्षमा की बेला

आह—
भूल मुझ से हुई—मेरा जागता है ज्ञान,
किन्तु यह जो गाँठ है साझी हमारी,
खोल सकता हूँ अकेला
कौन से अभिमान के बल पर ?
—हाँ, तुम्हारे चेतना-तल पर
तैर आये अगर मेरा ध्यान,
और हो अम्लान
(चेतना के सलिल से धुल कर)

तो वही हो क्षमा की बेला—
अनाहत संवेदना ही में तुम्हारी
लीन हो परिताप, छूटे शाप,
मुक्ति की बेला—
मिटे अन्तर्दाह !

शरद

सिमट गयी फिर नदी, सिमटने में चमक आयी,
गगन के वदन में फिर नयी एक दमक आयी।
दीप कोजागरी बाले कि फिर आवें वियोगी सब :
ढोलकों में उछाह और उमंग की गमक आयी।

बादलों के चुम्बनों से खिल अयानी हरियाली,
शरद की धूप में न्हा-निखर कर हो गयी है मतवाली।
झुंड कीरों के अनेकों फबतियाँ कसते मँडराते :
झर रही है प्रान्तर में चुपचाप लजीली शेफाली।

बुलाती ही रही उजली कछार की खुली छाती—
उड़ चली कहीं दूर दिशा को धौली बक-पाँती।
गाज, बाज, बिजली से घेर इन्द्र ने जो रक्खी थी—
शारदा ने हँस के वो तारों की लुटा दी थाती।

मालती अनजान भोनी गन्ध का है झीना जाल फैलाती
कहीं उस के रेशमी फन्दे में शुभ्र चाँदनी पकड़ पाती!
घर-भवन-प्रासाद खंडहर हो गये किन-किन लताओं की जकड़ में
गन्ध, वायु, चाँदनी, अनंग रहीं मुक्त इठलाती!

साँझ। सूने नील में दोले है कोजागरी का दिया।
हार का प्रतीक—'दिया सो दिया, भुला दिया जो किया!'
किन्तु—शारद चाँदनी की साक्ष्य—यह संकेत जय का है—
प्यार जो किया सो जिया, धधक रहा है हिया, पिया!

कतकी पूनो

छिटक रही है चाँदनी,
मदमाती, उन्मादिनी,
कलगी-मौर सजाव ले
कास हुए हैं बावले,
पकी ज्वार से निकल शशों की जोड़ी गयी फलाँगती—
सन्नाटे में बाँक नदी की जगी चमक कर झाँकती !

कुहरा झीना और महीन,
झर-झर पड़े अकासनीम,
उजली-लालिम मालती
गन्ध के डोरे डालती;
मन में दुबकी है हुलास ज्यों परछाईं हो चोर की—
तेरी बाट अगोरते ये आँखें हुईं चकोर की !

सपने मैंने भी देखे हैं

सपने मैंने भी देखे हैं—
मेरे भी हैं देश जहाँ पर
स्फटिक नील सलिलाओं के पुलिनों पर
सुर-धनु सेतु बने रहते हैं।
मेरी भी उमगी कांक्षाएँ
लीला - कर से छू आती हैं रँगारंग फ़ानूस
व्यूह-रचित अम्बर-तलवासी द्यौस्पितर के!
आज अगर मैं जगा हुआ हूँ अनिमिष—
आज स्वप्न-वीथी से मेरे पैर अटपटे भटक गये हैं—
तो वह क्यों ? इस लिए कि आज
प्रत्येक स्वप्नदर्शी के आगे
गति से अलग नहीं पथ की यति कोई !
अपने से बाहर आने को छोड़
नहीं आवास दूसरा।
भीतर—भले स्वयं साँई बसते हों।
पिया-पिया की रटना !
पिया न जाने आज कहाँ हैं :
सूली पर जो सेज बिछी है, वह—
वह मेरी है !

सबेरे-सबेरे

सबेरे-सबेरे
नहीं आती बुलबुल,
न श्यामा सुरीली
न फुदकी न दँहगल
सुनाती हैं बोली;
नहीं फूलसुँघनी,
पतेना-सहेली
लगाती हैं फेरे।
जैसे ही जागा
कहीं पर अभागा
अड़ड़ाता है कागा—
काँय! काँय! काँय!

बोलो भला सच-सच
कैसे विश्व-प्रेम फिर
ध्यावे कोई?
कैसे आशीर्वच—
'मुदन्तु सर्वे प्रसीदन्तु सर्वे,
सर्वे सुखिनः सन्तु।'

गावे कोई ?
ऐसी औंधी खोपड़ी
क्यों पावे कोई ?
काँय ! काँय ! काँय !
क्या करें, कहाँ जाँय ?
मुँह से यही हाय !
निकले है मेरे—
'घत्तेरे ! नास जाय !'

सच, मुँह-अँधेरे
सबेरे-सबेरे !

हमारा देश

इन्हीं तृण-फूस-छप्पर से
ढँके ढुलमुल गँवारू
झोंपड़ों में ही हमारा देश
बसता है।

इन्हीं के ढोल - मादल - बाँसुरी के
उमगते सुर में
हमारी साधना का रस
बरसता है।

इन्हीं के मर्म को अनजान
शहरों की ढँकी लोलुप
विषैली वासना का साँप
डँसता है।

इन्हीं में लहरती अल्हड़
अयानी संस्कृति की दुर्दशा पर
सभ्यता का भूत
हँसता है।

एक ऑटोग्राफ़

अल्ला रे अल्ला
होता न मनुष्य मैं, होता करमकल्ला।
रूखे कर्म-जीवन से उलझता न पल्ला।
चाहता न नाम कुछ
माँगता न दाम कुछ
करता न काम कुछ, बैठता निठल्ला—
अल्ला रे अल्ला।

कवि, हुआ क्या फिर

कवि, हुआ क्या फिर
तुम्हारे हृदय को यदि लग गयी है ठेस ?
चिड़ी-दिल को जमा लो मूंठ पर
('ऐहे, सितम, सैयाद !')
न जाने किस झरे गुल की सिसकती याद में
बुलबुल तड़पती है—
न पूछो, दोस्त ! हम भी रो रहे हैं लिये टूटा दिल !
('मियाँ, बुलबुल लड़ाओगे ?')

तुम्हारी भावनाएँ जग उठी हैं !
बिछ चलीं पनचादरें ये एक चुल्लू आँसुओं की—
डूब मर, बरसात !
सुनो कवि ! भावनाएँ नहीं हैं सोता,
भावनाएँ खाद हैं केवल !
ज़रा उन को दबा रखो
ज़रा-सा और पकने दो
ताने और तचने दो

अँधेरी तहों की पुट में पिघलने और पचने दो;
रिसने और रचने दो—
कि उन का सार बन कर चेतना की धरा को कुछ उर्वरा कर दे :
भावनाएँ तभी फलती हैं कि उन से लोक के
कल्याण का अंकुर कहीं फूटे।

कवि, हृदय को लग गयी है ठेस ?
धरा में हल चलेगा !
मगर तुम तो गरेबाँ टोह कर देखो
कि क्या वह लोक के कल्याण का भी
बीज तुम में है ?

माहीवाल से

शान्त हो :
काल को भी समय थोड़ा चाहिए।

जो घड़े—कच्चे, अपात्र!—डुबा गये मँझधार
तेरी सोहनी को चन्द्रभागा की उफनती छालियों में
उन्हीं में से उसी का जल अनन्तर तू पी सकेगा
औ' कहेगा, 'आह, कितनी तृप्ति!'

क्रौंच बैठा हो कभी वल्मीक पर
तो मत समझ
वह अनुष्टुप् बाँचता है संगिनी के स्मरण के—
जान ले, वह दीमकों की टोह में है।

कविजनोचित न हो चाहे, यही सच्चा साक्ष्य है :
एक दिन तू सोहनी से पूछ लेना।

पुनराविष्कार

कुछ नहीं, यहाँ भी अन्धकार ही है,
काम-रूपिणी वासना का विकार ही है।
यह गुथीला व्योमग्रासी धुआँ जैसा
आततायी दृप्त-दुर्दम प्यार ही है।

शक्ति का उत्पात

क्रान्ति है आवर्त्त, होगी भूल उस को मानना धारा :
उपप्लव निज में नहीं उद्दिष्ट हो सकता हमारा।
जो नहीं उपयोज्य, वह गति शक्ति का उत्पात-भर है
स्वर्ग की हो—माँगती भागीरथी भी है किनारा!

सो रहा है झोंप

सो रहा है झोंप अँधियाला
नदी की जाँघ पर :
डाह से सिहरी हुई यह चाँदनी
चोर पैरों से उलझ कर
झाँक जाती है ।

प्रस्फुटन के दो क्षणों का मोल
शेफाली
विजन की धूल पर चुप-चाप
अपने मुग्ध प्राणों से अजाने
आँक जाती है ।

क्वाँर की बयार

इतराया यह मौर ज्वार का
क्वाँर की बयार चली,
शशि गगन पार हँसे न हँसे—
शेफाली आँसू ढार चली!
नभ में रवहीन दीन—
बगुलों की डार चली;
मन की सब अनकही रही—
पर मैं बात हार चली!

•

जीवन

यहीं पर
सब हँसी,
सब गान होगा शेष :

यहाँ से
एक जिज्ञासा
अनुत्तर जगेगी अनिमेष !

नयी व्यंजना

तुम जो कुछ कहना चाहोगे
विगत युगों में कहा जा चुका:
सुख का आविष्कार तुम्हारा ?
बार-बार वह सहा जा चुका !
रहने दो, वह नहीं तुम्हारा
केवल अपना हो सकता जो
मानव के प्रत्येक अहं में
सामाजिक अभिव्यक्ति पा चुका !

एक मौन ही है जो अब भी
नयी कहानी कह सकता है;
इसी एक घट में नवयुग की
गंगा का जल रह सकता है;
संसृतियों की, संस्कृतियों की
तोड़ सभ्यता की चट्टानें—
नयी व्यंजना का सोता बस
इसी राह से बह सकता है !

बन्धु हैं नदियाँ

इसी जमुना के किनारे एक दिन
मैंने सुनी थी दुःख की गाथा तुम्हारी
और सहसा कहा था बेबस :
'तुम्हें मैं प्यार करता हूँ।'
गहे थे दो हाथ मौन समाधि में
स्वीकार की।

इसी जमुना के किनारे आज
मैंने फिर कहा है वह : 'तुम्हें मैं प्यार करता हूँ।'
और उत्तर में सुनी है दुःख की गाथा तुम्हारी,
गहे हैं दो हाथ मौन समाधि में
उत्सर्ग की।

न जाने फिर
इसी जमुना के किनारे एक दिन
कर सकूँगा नहीं बातें प्यार की
सुननी न होगी दुःख की गाथा—
एक दिन जब बनेगा उत्सर्ग स्वीकृति
उच्चतर आदेश की !

बन्धु हैं नदियाँ
प्रकृति भी बन्धु है
और क्या जाने, कदाचित्
बन्धु
मानव भी !

मेरा तारा

ऐसे ही थे मेघ क्वाँर के,
यही चाँद कहता था
मुझ को आँख मार के
"अजी तुम्हारा मैं हूँ साथी—
जीवन-भर इस धुली चाँदनी में तुम
खेला करना खेल प्यार के !"

वही मेघ हैं, साँझ क्वाँर की,
वही चाँद, ध्वनि वैसी
दूर पार की :
"केवल मैं ही चिर-संगी हूँ,
क्योंकि अकेला हूँ उतना ही
अपनी हिम-शीतल दुनिया में, जितने तुम उस दुनिया में हो।
महाशून्य आकाश हमारा पथ है :
छोड़ो चिन्ता वार-पार की !"

उस दिन वह छोटा-सा तारा
वत्सल था—पर चुप था।
आज वही
चुप है, पर वत्सल।
स्मित, यद्यपि बेचारा,
मेरा तारा।

आत्मा बोली :

आत्मा बोली :
सुनो छोड़ दो यह असमान लड़ाई
लड़ना ही क्या है चरित्र ? यश जय ही ?
धैर्य पराजय में—यह भी गौरव है !

मैंने कहा :
पराजय में तो धैर्य सहज है, क्योंकि पराजय
परिणति तो है !
मैं तो अभी अधर में हूँ—लड़ता हूँ ।

आत्मा बोली :
किस बूते पर ? मेरे दो ही हैं सहकर्मी :
प्यार—सिखाता है जो देना,
आशा—जो चुक जाने पर भी रिक्त नहीं होने देती है ।
अब तो मैं हूँ निपट अकेली !

मैंने कहा :
सखी मेरी, तुम भले मान लो मुझे अकिंचन

पर क्या मेरी आस्था भी नगण्य है ?
दे कर
देते-देते चुक जाने पर
वही प्रेरणा देती है—मैं दे सकने को
और नया कुछ रचूँ ! फिर रचूँ !
अभी न हारो, अच्छी आत्मा,
मैं हूँ, तुम हो,
और अभी मेरी आस्था है !

पहला दौंगरा

गगन में मेघ घिर आये।

तुम्हारी याद
स्मृति के पींजड़े में बाँध कर मैंने नहीं रक्खी,
तुम्हारे स्नेह को भरना
पुरानी कुप्पियों में स्वत्व की
मैंने नहीं चाहा।

गगन में मेघ घिरते हैं
तुम्हारी याद घिरती है।
उमड़ कर विवश बूंदें बरसती हैं—
तुम्हारी सुधि बरसती है।
न जाने अन्तरात्मा में मुझे यह कौन कहता है
तुम्हें भी यही प्रिय होता।
क्योंकि तुमने भी निकट से दुःख जाना था।

दुःख सब को माँजता है
और—

चाहे स्वयं सब को मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु—
जिन को माँजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सब को मुक्त रखें।

मगर जो हो
अभी तो मेघ घिर आये
पड़ा यह दौंगरा पहला
धरा ललकी, उठी, बिखरी हवा में
बास सोंधी
मुग्ध मिट्टी की।

भिगो दो, आह!
ओ रे मेघ, क्या तुम जानते हो
तुम्हारे साथ कितने हियों में कितनी असीसें
उमड़ आयी हैं?

कलगी बाजरे की

हरी बिछली घास।
दोलती कलगी छरहरी बाजरे की।

अगर मैं तुम को
ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता,
या शरद के भोर की नीहार-न्हायी कुंई,
टटकी कली चम्पे की
वगैरह, तो
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है।

बल्कि केवल यही :
ये उपमान मैले हो गये हैं।
देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच।

कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।

मगर क्या तुम
नहीं पहचान पाओगी :
तुम्हारे रूप के—
तुम हो, निकट हो, इसी जादू के—
निजी किस सहज, गहरे बोध से,
किस प्यार से मैं कह रहा हूँ—
अगर मैं यह कहूँ—
बिछली घास हो तुम
लहलहाती हवा में कलगी छरहरी बाजरे की ?

आज हम शहरातियों को
पालतू मालंच पर सँवरी जुही के फूल से
सृष्टि के विस्तार का—ऐश्वर्य का—
औदार्य का—
कहीं सच्चा, कहीं प्यारा
एक प्रतीक
बिछली घास है,
या शरद की साँझ के सूने गगन की पीठिका पर
दोलती कलगी अकेली
बाजरे की ।

और सचमुच, इन्हें जब-जब देखता हूँ
यह खुला वीरान संसृति का घना हो सिमट आता है—
और मैं एकान्त होता हूँ
समर्पित ।

शब्द जादू हैं—
मगर क्या यह समर्पण कुछ नहीं है ?

हरी घास पर क्षण-भर

आओ बैठें
इसी ढाल की
हरी घास पर।
माली-चौकीदारों का यह समय नहीं है,
और घास तो
अधुनातन मानव-मन की भावना की तरह
सदा बिछी है—हरी, न्यौतती
कोई आकर रौंदे।

आओ, बैठो।
तनिक और सट कर, कि हमारे बीच स्नेह-भर का
व्यवधान रहे, बस,
नहीं दरारें सभ्य शिष्ट जीवन की।

चाहे बोलो,
चाहे धीरे-धीरे बोलो,
स्वगत गुनगुनाओ,
चाहे चुप रह जाओ—
हो प्रकृतस्थ : तनो मत कटी-छँटी उस बाड़ सरीखी,
नमो, खुल खिलो, सहज मिलो
अन्तःस्मित, अन्तःसंयत
हरी घास-सी।

क्षण-भर भुला सकें हम
नगरी की बेचैन बुदकती गड्ड-मड्ड अकुलाहट—

और न मानें उसे
　　　　पलायन ;

　　क्षण-भर देख सकें
आकाश, धरा,
दूर्वा, मेघाली,
पौधे;
लता दोलती,
फूल,
झरे पत्ते,
तितली-भुनगे,
फुनगी पर पूँछ उठा कर इतराती छोटी-सी चिड़िया—
और न सहसा चोर कह उठे मन में
　　　　प्रकृतिवाद है स्खलन
　　　　क्योंकि युग जनवादी है ।

　　क्षण-भर हम न रहें
रह कर भी :
सुनें गूंज भीतर के सूने सन्नाटे में
किसी दूर सागर की लोल लहर की
जिस की छाती की हम दोनों छोटी-छोटी-सी सिहरन हैं-
जैसे सीपी सदा सुना करती है ।

　　क्षण-भर लय हों
मैं भी, तुम भी,
और न सिमटें सोच कि हमने
अपने से भी बड़ा किसी भी अपर को क्यों माना !

　　क्षण-भर अनायास
हम याद करें :

तिरती नाव नदी में,
धूल भरे पथ पर असाढ़ की भभक,
झील में साथ तैरना,
हँसी अकारण खड़े महा-वट की छाया में,
वदन घाम से लाल, स्वेद से जमी अलक-लट,
चीड़ों का वन, साथ-साथ दुलकी चलते दो घोड़े,
गीली हवा नदी की, फूले नथुने,
भर्रायी सीटी स्टीमर की,
खँडहर,
ग्रथित अँगुलियाँ,
बाँसे का मधु,
डाकिये के पैरों की चाप,
अधजानी बबूल की धूल मिली-सी गन्ध,
झरा रेशम शिरीष का,
कविता के पद,
मसजिद के गुम्बद के पीछे सूर्य डूबता धीरे-धारे,
झरने के चमकीले पत्थर,
मोर-मोरनी,
घुँघरू,
सन्थाली झूमुर का लम्बा कसक-भरा आलाप,
रेल का आह की तरह धीरे-धीरे खिचना,
लहरें,
आँधी-पानी,
नदी किनारे की रेती पर बित्ते-भर की छाँह झाड़ का।
अंगुल-अंगुल नाप-नाप कर तोड़े तिनकों का समूह,
लू,
मौन।

याद कर सकें अनायास
और न मानें
हम अतीत के शरणार्थी हैं ;
स्मरण हमारा—
जीवन के अनुभव का प्रत्यवलोकन—
हमें न हीन बनावे
प्रत्यभिमुख होने के पाप-बोध से ।

आओ बैठो :
क्षण-भर :
यह क्षण हमें मिला है
नहीं नगर-सेठों की फ़ैयाज़ी से ।
हमें मिला है यह अपने जीवन की निधि से ब्याज सरीखा ।

आओ बैठो :
क्षक-भर तुम्हें निहारूँ ।
अपनी जानी एक-एक रेखा पहचानूँ
चेहरे की, आँखों की—
अन्तर्मन की
और—हमारी साझे की अनगिन स्मृतियों की :
तुम्हें निहारूँ,
झिझक न हो कि निरखना
दबी वासना की विकृति है !

धीरे-धीरे
धुँधले में चेहरे की रेखाएँ मिट जायें—
केवल नेत्र जगें :
उतनी ही धीरे
हरी घास की पत्ती-पत्ती भी मिट जावे

लिपट झाड़ियों के पैरों में
और झाड़ियाँ भी घुल जावें
क्षिति-रेखा के मसृण ध्वान्त में ;
केवल बना रहे विस्तार—हमारा बोध
मुक्ति का,
सीमाहीन खुलेपन का ही ।

चलो, उठें अब ;
अब तक हम थे बन्धु
सैर को आये—
(देखे हैं क्या कभी घास पर लोट-पोट होते सतभैये
शोर मचाते ?)
और रहे बैठे तो
लोग कहेंगे
धुँधले में दुबके प्रेमी बैठे हैं ।

वह हम हों भी
तो यह हरी घास ही जाने :
(जिस के खुले निमन्त्रण के बल
जग ने सदा उसे रौंदा है
और वह नहीं बोली,)
नहीं सुनें हम वह नगरी के नागरिकों से
जिन की भाषा में
अतिशय चिकनाई है साबुन की
किन्तु नहीं है
करुणा ।

उठो, चलें, प्रिय ।

नदी के द्वीप

हम नदी के द्वीप हैं।
हम नहीं कहते कि हम को छोड़ कर स्रोतस्विनी बह जाय।
वह हमें आकार देती है।
हमारे कोण, गलियाँ, अन्तरीप, उभार, सैकत कूल,
सब गोलाइयां उसकी गढ़ी हैं।

माँ है वह। है, इसी से हम बने हैं।

२

किन्तु हम है द्वीप।
हम धारा नहीं हैं।
स्थिर समर्पण है हमारा। हम सदा से द्वीप हैं स्रोतस्विनी के।
किन्तु हम बहते नहीं हैं। क्योंकि बहना रेत होना है।
हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं।
पैर उखड़ेंगे। प्लवन होगा। ढहेंगे। सहेंगे। बह जायेंगे।

और फिर हम चूर्ण हो कर भी कभी क्या धार बन सकते?
रेत बन कर हम सलिल को तनिक गँदला ही करेंगे।
अनुपयोगी ही बनायेंगे।

३

द्वीप हैं हम ।
यह नहीं है शाप । यह अपनी नियति है ।
हम नदी के पुत्र हैं । बैठे नदी के क्रोड़ में ।
वह बृहद् भूखंड से हम को मिलाती है ।
और वह भूखंड
अपना पितर है ।

४

नदी, तुम बहती चलो ।
भूखंड से जो दाय हम को मिला है, मिलता रहा है,
माँजती, संस्कार देती चलो :
यदि ऐसा कभी हो
तुम्हारे आह्लाद से या दूसरों के किसी स्वैराचार से—
अतिचार से—
तुम बढ़ो, प्लावन तुम्हारा घरघराता उठे,
यह स्रोतस्विनी ही कर्मनाशा कीर्त्तिनाशा घोर
काल-प्रवाहिनी बन जाय
तो हमें स्वीकार है वह भी । उसी मे रेत हो कर
फिर छनेंगे हम । जमेंगे हम । कहीं फिर पैर टेकेंगे ।
कहीं फिर भी खड़ा होगा नये व्यक्तित्व का आकार ।

मातः, उसे फिर संस्कार तुम देना ।

छन्द है यह फूल

छन्द है यह फूल, पत्ती प्रास।
सभी कुछ में है नियम की साँस।
कौन-सा वह अर्थ जिस की अलंकृति कर नहीं सकती
यही पैरों तले की घास ?

समर्पण लय, कर्म है संगीत ;
टेक करुणा—सजग मानव-प्रीति।
यदि न खोजो—अहं ही यति है !—स्वयं रणरणित होते
रहो, मेरे मीत !

बने मंजूष यह अन्तस्

किसी एकान्त का लघु द्वीप मेरे प्राण में बच जाय
जिस से लोक-रव भी कर्म के समवेत में रच जाय।
बने मंजूष यह अन्तस् समर्पण के हुताशन का—
अकरुणा का हलाहल भी रसायन बन मुझे पच जाय !

अनुक्रमणिका

[प्रथम पंक्तियों की तालिका]

1-65-3-1½